ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

वर्ष ५२
अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, नवम्बर १९७८

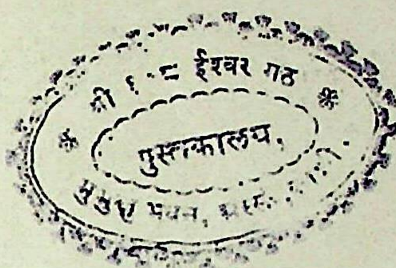
चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

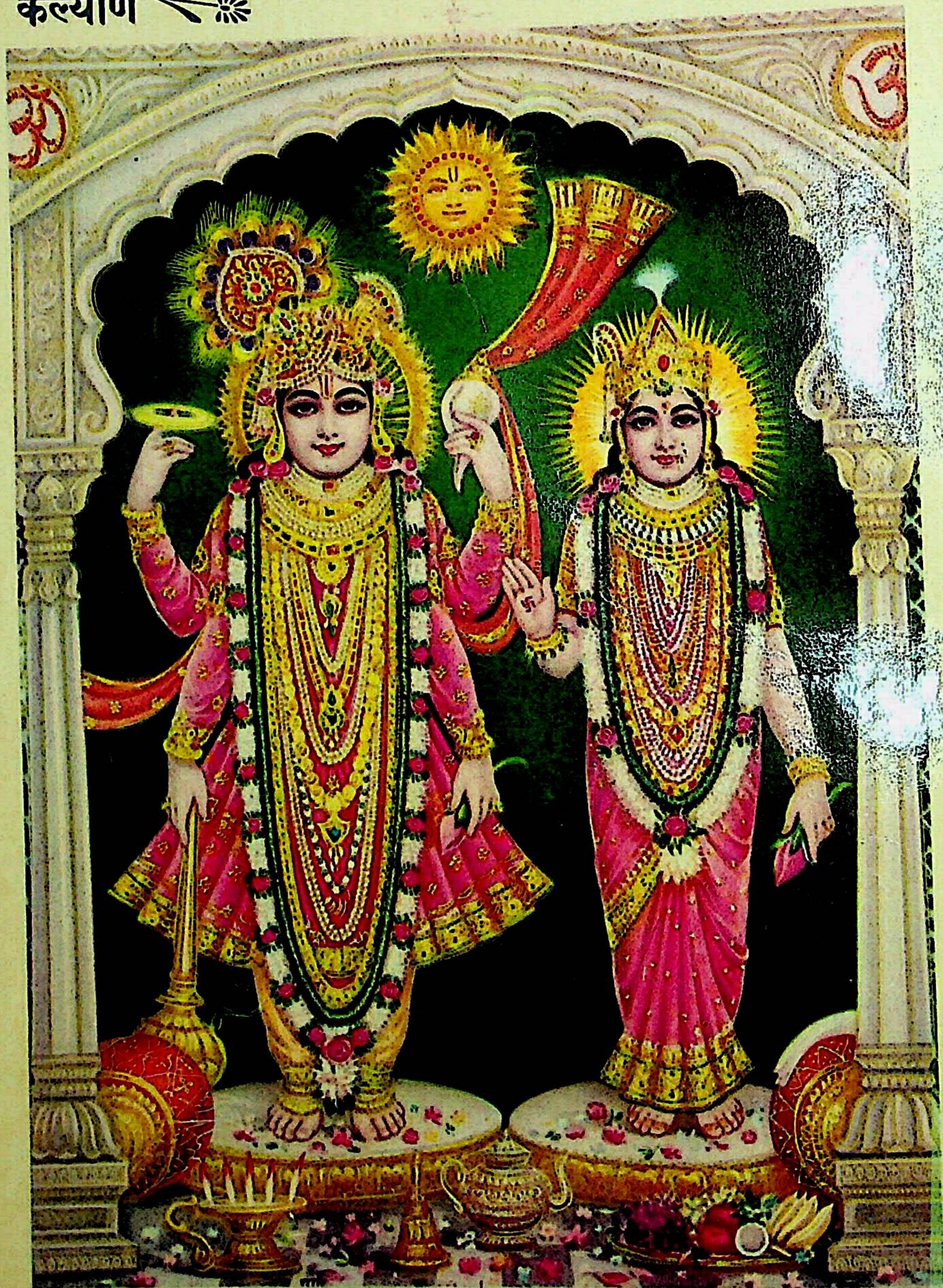
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]


श्री १०८ ईश्वर मठ
पुस्तकालय.
मुमुक्षु भवन,


ईश्वर मठ
पुस्तकालय.


श्री १०८ ईश्वर मठ
पुस्तकालय.
मुमुक्षु भवन,



श्री लक्ष्मीनारायण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, नवम्बर १९७८ | संख्या ११ पूर्ण संख्या ६२४

श्रीलक्ष्मी-नारायणजीकी जय

जय लक्ष्मी-नारायण, जय लक्ष्मी-विष्णो ।
जय माधव, जय श्रीपति, जय जय जय जिष्णो ॥
जय चम्पा-सम-वर्णे जय नीरदकान्ते ।
जय मन्दस्मितशोभे जय अद्भुत-शान्ते ॥
तुम त्रिभुवनकी माता, तुम सबके त्राता ।
तुम लोकत्रय-जननी, तुम सबके धाता ॥
तुम जन-धन, सुख-संतति, जय देनेवाली ।
परमानन्द-विधाता, तुम हो वनमाली ॥

—श्रीभाईजी

कल्याण

बुरे सङ्गसे सदा दूर रहो, बुरा सङ्ग बुरे मनुष्यका ही नहीं होता; बुरी जगह, बुरा अन्न, बुरा ग्रन्थ, बुरा दृश्य, बुरी बात, बुरा वातावरण आदि भी बुरे सङ्ग हैं। लगातारके बुरे सङ्गसे बुरे परमाणुओंके द्वारा अंदरके अच्छे परमाणु जब दब जाते हैं, तब बुरी बातें स्वाभाविक ही अच्छी मालूम होने लगती हैं। जैसा मन होता है वैसी ही दृष्टि होती है और जैसी दृष्टि होती है वैसा ही दृश्य दीखता है। सच्चे साधुको प्रायः सभी साधु दिखायी पड़ते हैं, चोरको चोर दीखते हैं, कामीको सब कामी और लोभीको लोभी दीखते हैं।

बुरे वातावरणमें रहते-रहते चित्त बुरा हो जाता है, फिर उसमें बुरे संकल्प उठते हैं। जिसके चित्तमें बुरे संकल्प उठते हैं, उसके समान दुखी तथा अपराधी और कौन होगा? क्योंकि वह अपने चित्तके बुरे संकल्पोंको जगत्‌में फैलाकर दूसरोंको भी बुरा बनाता है।

यह निश्चय करो कि मेरे चित्तमें कभी बुरी कल्पना नहीं आ सकती, मैं पवित्र हूँ, भगवान्‌की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया है, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का अभय हाथ सदा मेरे सिरपर है। मैं उनकी छत्रछायामें हूँ। पाप-ताप मेरे पास नहीं आ सकते।

रोगकी अवस्थामें यह निश्चय करो कि बीमारी शरीरको है, मैं तो नित्य निरामय हूँ, मुझको कभी कोई रोग नहीं हो सकता। मैं सबका द्रष्टा हूँ। शरीर क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है, किसी दिन नष्ट होगा ही। मैं अज हूँ, अविनाशी हूँ, अमर हूँ।

शोकके प्रसङ्गमें यह निश्चय करो कि मेरे लिये कभी शोकका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। प्रकृति जादूभरी है और परिवर्तनशील है, इसमें उपजने और नष्ट होनेका खेल सदा होता रहता ही है। रूप बदलता है, मूल वस्तु कभी नष्ट नहीं होती, फिर मैं शोक क्यों करूँ? अथवा यह निश्चय करो कि मेरे स्वामी भगवान् जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें मेरा परम कल्याण है, यह ध्रुव सत्य है। शोक करना स्वामीके विधानपर असन्तोष प्रकट करना है जो सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः भगवान् हमारी भलाईके लिये ही सब कुछ करते हैं।

कामके प्रसङ्गपर यह विचार करो कि जगत्‌की सारी सुन्दरता मेरे प्रभुकी सुन्दरताका एक कण है। मैं मोहवश उस परम सुन्दरको छोड़कर हाड़-मांसके थैलेपर आसक्त हो रहा हूँ, यह अज्ञान है। मैं अपने प्रभुकी कृपासे इस अज्ञानके वश नहीं हो सकता। मैं निर्मल हूँ, मैं असङ्ग हूँ, मेरे हृदयमें राम हैं, मैं रामका हूँ, राम मेरे हैं, राम मुझे अपना स्वरूप मानते हैं, अतः मेरे निकट काम नहीं आ सकता। मेरे रामकी सुन्दरताके सामने सारी सुन्दरताएँ तुच्छ हैं, सूर्यके सामने जुगनूके समान भी नहीं है।

क्रोधका अवसर आनेपर चुप रह जाओ और विचार करो जगत्‌में सब ओर भगवान्‌का विस्तार है। भगवान् ही विश्वरूपमें प्रकाशित हैं, मैं भगवान्‌पर क्रोध कैसे करूँ, उनका अपमान कैसे करूँ। और निश्चय करो कि मैं क्रोधसे परे हूँ। मेरा हृदय नित्य क्षमासे पूर्ण है, सारे प्राणियोंके प्रति प्रेम, मैत्री, क्षमा और दया करना ही मेरा स्वभाव है। कठोर-से-कठोर वचन और व्यवहारको मैं सहर्ष सहन करूँगा। मेरे मनमें किसीके प्रति द्वेष नहीं है, इसलिये मैं क्रोधके वश कभी नहीं हो सकता।

लोभकी बात सामने आनेपर मनमें विचार करो और निश्चय करो कि मैं पूर्ण हूँ, मैं किसीका धन नहीं चाहता। मेरे लिये जगत्‌में लुभानेवाली वस्तु कोई भी नहीं है। मुझमें कोई कामना, आकाङ्क्षा नहीं है; फिर किसी चीजके लिये मुझको लोभ कैसे हो सकता है?

मनमें भय, अशान्ति, उद्वेग और विषादको स्थान न दो। भगवान्‌की दया अथवा आत्माकी पवित्रता और नित्यतापर विश्वास रखकर सदा शान्त, निर्भय और प्रसन्न रहनेका यत्न करो। —श्रीभाईजी

*

नाम-स्मरणकी आवश्यकता

[स्व० पूज्य महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके उपदेशामृत]

आप सब लोग भगवन्नाम-जप और कीर्तन करते हैं; किंतु आप यह तो बतलाइये कि नामजप क्यों करना चाहिये ? इससे क्या लाभ है ? लोग कहते हैं—भगवान्‌का नाम लेनेसे पाप कटते हैं, परंतु इसमें युक्ति क्या है ? आपमेंसे कोई भी इसका उत्तर दें। भगवन्नाम-स्मरणसे चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकारचित्तमें भला पाप-तापके लिये गुंजाइश कहाँ है ? इसीलिये नामस्मरण पापनाशकी अमोघ ओषधि है।

बिना जाने भगवान्‌का नाम लेनेसे भी किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषयमें श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धमें एक बड़ी अद्भुत कथा है। अजामिल नामका एक बड़ा ही दुराचारी और दुष्ट प्रकृतिका ब्राह्मण था। उसके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'नारायण' था। जब अजामिलका अन्तकाल उपस्थित हुआ तो उसे लेनेके लिये यमदूत आये। उनके भयंकर स्वरूपको देखकर अजामिल डर गया और उसने 'नारायण' कहकर अपने छोटे पुत्रको पुकारा। उसके मुखसे 'नारायण' शब्द निकलते ही वहाँ विष्णु-भगवान्‌के पार्षद उपस्थित हो गये। उन्होंने तुरंत ही उसे यमदूतोंके पाशसे छुड़ा लिया। जब यमदूतोंने उसके पापमय जीवनका वर्णन करते हुए यमदण्डका पात्र बतलाया तो भगवान्‌के पार्षदोंने उनके कथनका विरोध करते हुए कहा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥
(श्रीमद्भा० ६। २। ७, ८, १०)

'इसने तो अपने करोड़ों जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर दिया; क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान्‌का मङ्गलमय नाम उच्चारण किया है। इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरोंका नाम उच्चारण किया है, इतनेसे ही इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया। समस्त पापियोंके लिये भगवान् विष्णुका नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है; क्योंकि ऐसा करनेसे भगवद्विषयक बुद्धि हो जाती है।'

संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह नाम-जपादिके द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करे। देखो, यह भगवन्नामोच्चारणका ही माहात्म्य है कि अजामिल-जैसा पापी भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो गया।

महाभारत शान्तिपर्वकी कथा है कि जिस समय शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मसे महाराज युधिष्ठिरने पूछा—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥
(विष्णुसहस्र० ३)

'सम्पूर्ण धर्मोंमें आपके विचारसे कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है ? और मनुष्य किसका जप करनेसे जन्म-मरण-रूप संसारसे मुक्त हो जाता है ?' तब पितामहने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन्स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥
(विष्णुसहस्र० ४—१०)

'जो सम्पूर्ण संसारके स्वामी, देवोंके देव, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं, उन आदि-अन्तसे रहित, सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर और सबके साक्षी भगवान् अच्युतकी नित्यप्रति उठकर हजार नामोंसे स्तुति करनेसे तथा उन अविनाशी पुरुषोत्तमका ही भक्तिपूर्वक पूजन, ध्यान, स्तवन और वन्दन करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है। वे श्रीविष्णु ब्राह्मणोंके हितकारी, समस्त धर्मोंके ज्ञाता, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकोंके स्वामी, महद्भूत और सम्पूर्ण भूतोंके उत्पत्ति-स्थान हैं। मेरे विचारसे मनुष्यके सम्पूर्ण धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म यही है कि जो अत्युत्कृष्ट तेज, अति महान् तप, परमोत्कृष्ट ब्रह्म और बड़े-से-बड़े आश्रय हैं तथा जो पवित्रोंमें पवित्र, मङ्गलोंमें मङ्गल, देवोंमें महान् देव और समस्त भूतोंके अविनाशी पिता हैं, उन कमलनयन भगवान्का मनुष्य सर्वदा भक्तिपूर्वक स्तवन करे।'

इस प्रकार भीष्मजीने भगवान्को ही सबसे अधिक पूजनीय देव और भगवन्नाम-स्मरणको ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। भगवन्नामकी महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारणमात्रसे ग्रह, नक्षत्र एवं दिक्शूलादिके दोष निवृत्त हो जाते हैं। मैंने अपनी माताजीसे वर माँगा था कि 'मुझे प्रायः नित्य ही बाहर जाना-आना होता है, इसलिये ऐसा आशीर्वाद दो जिससे ग्रहदोषजनित विघ्न उपस्थित न हों।' तब मेरी माताने मुझसे कहा—'तू यात्रा आरम्भ करनेसे पूर्व 'नारायण' इस नामका उच्चारण कर लिया कर, फिर कोई विघ्न नहीं होगा।' माताजीके इस आशीर्वादसे मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है, मैं जिस समय 'नारायण' इस प्रकार उच्चारण करके यात्रा आरम्भ करता हूँ तो सारे विघ्न दूर खड़े रह जाते हैं।

यही बात श्रीमद्भागवतके नारायण-कवच नामक प्रसिद्ध स्तोत्रमें भी बतलायी गयी है। यह स्तोत्र भी भागवतके छठे स्कन्धमें ही है। वहाँ कहा है—

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा ॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥
(८ । २७-२८)

'ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, सरीसृप, हिंस्र जीवों अथवा पापोंसे हमें जो भय प्राप्त हो सकते हैं तथा हमारे श्रेयोमार्गके जो-जो प्रतिबन्ध हैं, वे इस भगवन्नामरूप अस्त्र (कवच) का कीर्तन करनेसे क्षीण हो जायँ।'

भगवन्नाम लेनेसे मनुष्यके सारे पाप उसी प्रकार कट जाते हैं, जैसे दूध डालनेसे चीनीका मैल कट जाता है। नामका प्रभाव हमारे चित्तको सर्वथा व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार जलमें तेलकी एक भी बूँद डालनेपर वह सारे जलके ऊपर फैलकर उसे ढक लेती है, उसी प्रकार अर्थानुसन्धानपूर्वक किया हुआ थोड़े-से भी नामजपसे पापका नाश होकर दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[दीपावलीपर कल्याणकारी संदेश]

दीपावलीपर हम लोग उत्सव मनाया करते हैं तथा श्रीलक्ष्मीनारायणजीका पूजन किया करते हैं। हम लोगोंके लिये यह बड़ा ही शुभ पर्व है, इसलिये शास्त्र-विधिके अनुसार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे बड़े ही आनन्द और उल्लासके साथ पूजनादि कृत्य सम्पादन करते हुए इस महोत्सवको मनाना चाहिये। परंतु यह महोत्सव पूर्णतया तो तभी सफल और सिद्ध हो सकता है, जबकि हम अपने परमावश्यक आत्मकल्याणके महत् कार्यको सिद्ध कर लें। प्रतिवर्ष दीपावली आती है और हमारी सीमित आयुमेंसे एक वर्ष निकल जाता है। इसी तरह एक-एक करके हमारे जीवनके बहुत-से वर्ष बीत चुके हैं और कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आगामी दीपावलीतक हम जीवित रहेंगे या नहीं। अतः इसी वर्षकी दीपावलीसे हमें बुद्धिमानीके साथ लाभ उठाना चाहिये। वह लाभ यही है कि जिस कामके लिये हमें यह मानव-देह प्राप्त हुआ है, उसे अतिशीघ्र ही सिद्ध कर लें। दीपावलीकी ज्योति हमें यह चेतावनी दे रही है कि जिस प्रकार बाहर दीपपंक्तियोंकी ज्योति फैल रही है, उसी प्रकार अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी ज्योतिकी आवश्यकता है। जैसे बाहरकी इस ज्योतिसे बाह्य अन्धकार दूर होता है, ऐसे ही अन्तःकरणकी ज्योतिसे आन्तरिक अज्ञान नष्ट होकर परमात्माका ज्ञान हो जाता है। अतः हृदयस्थ अज्ञानके नाशके लिये भीतरकी ज्योति जगानी चाहिये। वस्तुतः बाहर और भीतर दोनों ओर प्रकाशित करनेवाली हमें ऐसी ज्योति चाहिये जो निर्मल हो, जलानेवाली न हो, बुझनेवाली न हो, नित्य प्रकाशरूप हो और वस्तुका असली स्वरूप दिखला दे। ऐसी ज्योति है, भक्तिपूर्वक भगवान्‌का नित्य स्मरण।'

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

> राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
> तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

हमें अपनी अयोग्यता तथा दुर्बलताको देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये। इस कार्यमें दयामय भगवान् हमें पूर्ण सहायता देनेको तैयार हैं। वे हमें आश्वासन दे रहे हैं—

> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
> (गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

हमें तो बस, केवल भगवान्‌के अनुग्रहको प्राप्त करना है। इसे प्राप्त करनेका सर्वोत्तम और सबसे सरल उपाय है—भगवान्‌की अनन्य भक्ति, जिसका उल्लेख भगवान्‌ने गीतामें स्वयं कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

> मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
> कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> (गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पित करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर

रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं।'

इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने परम बुद्धिमान् अनन्य प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अपनी प्राप्तिके लिये भक्तिरूप परम साधनके सरलतम उपायोंका दिग्दर्शन कराया है। इनका आशय यह है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमास्पद, परम सुहृद् और परम आत्मीय समझकर अपने चित्तको अनन्यभावसे उन्हींमें लगा देते हैं, भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें उनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीय बुद्धि नहीं रहती, वे सदा-सर्वदा भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम और गुण-प्रभावका चिन्तन करते रहते हैं—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।
(नारदभक्तिसूत्र १९)

ऐसे भगवद्भक्तजन भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं, उनका खाने-पीने, चलने-फिरने, सोने-जागने आदि किसी भी क्रियामें अपना कोई निजी प्रयोजन नहीं होता। वे जो कुछ भी करते हैं, सब भगवान्‌के लिये ही। वे भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंके बीचमें परस्पर भगवान्‌का बोध करानेके उद्देश्यसे अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीला-माहात्म्यको समझते-समझाते हुए श्रद्धा-प्रीतिपूर्वक भगवद्विषयका ही कथन करते रहते हैं, एवं इस प्रकार प्रत्येक क्रियामें निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करके नित्य संतुष्ट रहते हैं, उन्हें भगवद्विषयकी बातोंके श्रवण, मनन, कीर्तन और पठन-पाठनसे ही परम शान्ति, आनन्द और संतोष प्राप्त होता है। सांसारिक वस्तुओंसे उनके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। वे तो बस भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने समीप समझकर निरन्तर प्रीतिपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीड़ा करते हुए उन्हींमें निरन्तर रमण करते रहते हैं। वे ऐसे भक्त किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमपूर्वक ही निरन्तर भजन करते हैं। ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान् वह बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा उस निर्गुण-निराकार परमात्म-तत्त्वको तथा लीला-रहस्य, गुण और प्रभाव आदिके सहित सगुण-साकार तथा निर्गुण-तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार भगवत्कृपासे उन प्रेमी भक्तोंके हृदयोंके अन्धकारका सर्वथा नाश होकर उनमें सदाके लिये ज्ञानका दिव्य प्रकाश छा जाता है और वे भगवान्‌की इस कृपानुकम्पाको प्राप्त करके सफलजीवन हो जाते हैं।

हमें भी भगवान्‌की इस अनवरत बरसनेवाली अपार अनन्त असीम कृपाकी ओर ध्यान देकर उससे वास्तविक लाभ उठाते हुए अपने जीवनको कृतार्थ करना चाहिये। हमें आजके इस पवित्र, सांस्कृतिक पर्वपर अपने अबतकके जीवनपर दृष्टि डालनी चाहिये। कितने दुःखकी बात है कि अबतक हमारी इतनी अधिक आयु (जीवनका अधिकांश अमूल्य समय) व्यर्थ प्रमादमें ही नष्ट हो गया। जिस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये हमें मानव-शरीर मिला था, उसे तो सर्वथा भूल ही गये। इस प्रकार यह सुअवसर पाकर भी यदि अब भी हम नहीं चेतेंगे तो हमारे लिये बहुत ही हानि है। श्रुति भगवती हमें चेता रही हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जन्ममें ही भगवान्को जान लिया तब तो अच्छी बात है और यदि इस जन्ममें नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। अतः धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वान्तर्यामी परमात्माको पहचान लेते हैं, जिससे इस लोकसे प्रयाणकर वे अमृत-स्वरूप हो जाते हैं अर्थात् उस अमृतमय परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।' नचिकेताको उपदेश देते हुए यमराज कहते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उस ज्ञानको प्राप्त करो; क्योंकि तत्त्वज्ञ पुरुष उस मार्गको छुरेकी तीक्ष्ण और दुस्तर धारके समान दुर्गम बतलाते हैं।' इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, वृद्धावस्था नहीं आयी है, शरीर रोगाक्रान्त होकर जर्जर नहीं हो गया है, उसके पहले-पहले ही आत्मकल्याणका काम कर लेना चाहिये। नहीं तो पीछे अत्यन्त पश्चात्ताप करनेपर भी कोई काम नहीं होगा।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अतः पहले ही सावधान हो जाना चाहिये। इन ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, भोग-विलासके पदार्थोंमें फँसकर इनके सेवनमें अपनी बहुमूल्य आयुको बिताना तो जीवनको मिट्टीमें मिलाकर नष्ट करना है। इन विषयोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। हमें भ्रमके कारण दुःख ही सुखके रूपमें भास रहा है। इसलिये कल्याणकामी विवेकी मनुष्यको उचित है कि इन सबको धोखेकी टट्टी समझकर दूरसे ही त्याग दे। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
(साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेकों दुःखोंसे मिश्रित होने तथा सात्त्विक, राजस, तामसवृत्तियोंमें विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विषयसुख दुःखरूप ही हैं।'

यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश इस विषयसुखको सुख भी माने तो विचार करनेपर मालूम हो जायगा कि यह सुख कितना अस्थिर है। देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न होनेके कारण यह सर्वथा क्षणभङ्गुर, विनाशशील और अत्यन्त अल्प ही है। इसीलिये तो बुद्धिमान् नचिकेताने यमराजके अनेक प्रलोभन देनेपर भी उनसे यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
(कठ० १।१।२६)

'हे यमराज ! ये समस्त भोग कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकारके संदेहसे युक्त एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण करनेवाले हैं। यही क्या, यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। इसलिये ये आपके वाहन और नाच-गान आपके ही पास रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।' यह तो जीवनकालमें इन भोगोंसे मिलनेवाले सुखकी बात है। मरनेके बाद तो इनमेंसे कोई भी पदार्थ किसी भी हालतमें किंचिन्मात्र भी किसीके साथ जा ही नहीं सकता।

एक कविने कहा है—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति॥
(भोजप्रबन्ध, शार्ङ्ग प० ४। ३०)

'जिसके अत्यन्त मनोहारिणी स्त्रियाँ हैं, अनुकूल मित्र हैं, बड़े ही सुयोग्य बन्धु-बान्धव हैं, प्रेमभरी मीठी वाणी बोलनेवाले सेवकगण हैं तथा जिसके घरमें अनेक हाथियोंके समूह चिग्घाड़ रहे हैं और तीव्र वेगवाले घोड़े हिनहिना रहे हैं, ऐसे पुरुषकी भी जब आँखें मुँद जाती हैं, तब न तो कोई भी उसका अपना ही रह जाता है और न कोई भी वस्तु उस समय उसके काम ही आ सकती है।'

इन धन-ऐश्वर्य आदि भोग्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारे साथ नहीं जा सकता, यहीं भस्म हो जाता है। फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य संसारके इन नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और इनके सेवनमें अपनी आयुको नष्ट करेगा ? फिर हम देखते हैं कि ये धनैश्वर्य आदि पदार्थ तो इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं। आजका धनी कल रास्तेका कंगाल हो जाता है। अतः इनके लिये तो परलोककी बात ही सोचना मूर्खता है। ऐसी अवस्थामें इनके संग्रह एवं सेवनमें मानव-जीवनका समय व्यय करना जीवनका भयानक दुरुपयोग ही है। धनको ही लीजिये, इसके उपार्जनमें कितना क्लेश है। झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और लूट-खसोट करके अन्यायसे कमाया हुआ धन परिणाममें इस लोक और परलोकमें दुःखरूप ही है। सरकारी कानूनकी रक्षा करते हुए न्याय और धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करनेमें भी कितना भारी परिश्रम है, इसपर भी ध्यान देना चाहिये। फिर, धनके संचय और संरक्षणमें भी महान् क्लेश है तथा उसके वियोगमें तो अत्यन्त कष्ट होता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
(११। २३। १७)

'धनोपार्जनके साधनमें, उसकी प्राप्तिमें, उसके बढ़नेमें, उसके संरक्षणमें, उसके खर्च हो जानेमें, उसके उपभोग करनेमें और किसी भी प्रकारसे नष्ट हो जानेमें मनुष्योंको महान् परिश्रम, त्रास (भय), चिन्ता और चित्तका भ्रम होता है।'

जिसमें इस प्रकार दुःख-ही-दुःख भरा है, सुखकी केवल भ्रान्तिमात्र है, ऐसे धनके उपार्जन और संचयको ही अपने जीवनका उद्देश्य मान लेना और इसीमें दिन-रात लगे रहना प्रमादके सिवा और क्या है ? यदि मनुष्य गम्भीरतासे विचार करके देखे तो पता लगेगा कि वर्तमान समयमें तो केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये भी न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना दुःख और परिश्रमसे खाली नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें कौन समझदार आदमी थोड़े-से जीवनके लिये धनसंग्रहार्थ अपने अमूल्य समयको भारी संकटमें डालकर भयङ्कर पाप बटोरेगा और इसके फलस्वरूप अपने इस लोक और परलोकको अशान्ति, दुःख और नारकीय यन्त्रणासे परिपूर्ण करेगा ?

यही बात शरीरके पालन-पोषण और भोगोंके उपभोगके विषयमें समझनी चाहिये । इसलिये थोड़े-से जीनेके लिये शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त विशेष विषयोपभोग-के लिये भोग्यपदार्थोंका संग्रह करना इस लोक और परलोकसे वञ्चित होकर अपने-आपको भयानक भयमें डालना है ।

वस्तुतः पूर्ण, यथार्थ और नित्य सुख तो परमात्माकी प्राप्तिमें है । उसीमें परम आनन्द और शाश्वत शान्ति हैं । वह सुख-शान्ति देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण नित्य, असीम, अपार, सर्वोपरि और महान् है । उसकी महिमा कोई बतला नहीं सकता । भगवान् कहते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । २)

'वह सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ।'

उस परमात्माको प्राप्त करनेमें कोई विशेष आयास या श्रम भी नहीं है, वह तो उसकी विशेष कृपासे स्वयमेव सहज ही प्राप्त हो सकता है, जिसकी प्राप्तिके साधन भी बड़े ही सुगम हैं और उन साधनोंके करते समय अर्थात् परमेश्वरके भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि साधन करनेके कालमें भी सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं, अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह ऐसे परमानन्दस्वरूप परमात्मा-को प्राप्त करनेके लिये अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनाते हुए—एक क्षण भी व्यर्थ न जाय, इसका प्रतिक्षण ध्यान रखते हुए कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये ।

इस प्रकार दिन-रात भजन-साधनमें लगे रहना ही जीवनमें यथार्थ ज्योतिका जगाना, अन्तःकरणमें नित्यसुख-रूप प्रकाशका विस्तार करना है । अज्ञान-तिमिरको हटाकर सब ओर अमृत-प्रकाश विकीर्ण करना ही इस ज्योतिपर्व—दीपावलीका आध्यात्मिक भाव है । सच्ची दीपावलीका अर्थ सच्चा आत्मानन्द है ।

ज्योतिःपर्व

ज्योतिःपर्व (दीपावली)भारतका विजय-पर्व है । वर्षा-ऋतुमें मलिन हुए गृहादिको स्वच्छ और सुन्दर सजाकर सायंकाल अनूठी शोभाशाली दीपपंक्तियाँ सजायी जाती हैं, जिनकी विकीर्ण ज्योतीराशिसे मन विमुग्ध हो जाता है । भविष्योत्तरपुराणकी श्रुति है कि उस दिन गृहस्थोंके घरोंमें श्रीलक्ष्मीजी घूमती हैं और स्वच्छ, पवित्र घरोंमें स्थायीरूपसे निवास करनेका विचार करती हैं । इसलिये कार्तिक अमावस्याके दिन प्रातःस्नानादि कर देव, पितृ और पूज्यजनोंका अर्चन, वन्दन कर दूध, दही एवं घी आदिसे श्राद्ध करके अपराह्णमें विविध प्रकारके गायन, वादन, भजन और संकीर्तन करे तथा प्रदोषकालमें दीपावली सजाये । स्थान-स्थानपर दीपमालिका सजाकर (मण्डलाकार दीपोंका अवस्थान कर) उसकी शोभाको अतिशयित बना दे । ऐसा करनेसे लक्ष्मीजी प्रसन्न होती हैं और परमपद प्राप्त होता है—

कार्तिके मास्यमावास्या तस्यां दीपप्रदीपनम् ।
शालाय ब्राह्मणः कुर्यात् स गच्छेत् परमं पदम् ॥

दिनभर व्रतोपवास रहकर सायंकाल सामूहिक दीपोंकी प्रदीप्तिमें श्रीगणेश, इन्द्र, कुबेर तथा श्रीलक्ष्मीनारायणका विधिवत् पूजन, प्रसाद-वितरण एवं रात्रि-जागरण करे । भारतीय संस्कृति और प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें इस दीप-पर्वकी बड़ी महिमा है । तात्त्विक दृष्टिसे यह पर्व तमोगुण-जनित अनर्थकारी दुर्गुणोंपर सत्त्वगुणोत्थ सद्गुणोंका विजय-पर्व है । इस दिन हम भारतीय ज्योतिर्मयसे घोर अन्धकार-अज्ञानसे प्रकाश-ज्ञानकी ओर ले जानेके लिये प्रार्थना करते हैं—*'तमसो मा ज्योतिर्गमय'* ।

साधनाके तीन प्रधान अङ्ग

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके एक प्रवचनसे)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

भगवान्‌के नाम-रूप-गुणों तथा लीलाओंका स्मरण करना भजनका प्रधान साधन है। यदि ये तीनों बातें साथ हों तो भजन पूर्णाङ्ग होगा। ये तीन बातें हैं—भाव, गुण और साधन। अभी जो पद आपलोगोंने सुना है, उसमें भजनकी उसी दिव्य भावनाका संकेत है—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद, बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

(विनयपत्रिका १०३। २)

इसमें यह आकाङ्क्षा नहीं है कि अच्छी मति हो, सुन्दर गति हो, धन-वैभव प्राप्त हो, मान-सम्मान मिले। इनकी तो जरूरत ही नहीं है। हमें भगवान्‌से माँगना तो केवल यही है कि भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दिनानुदिन अधिकाधिक भक्ति बढ़ती रहे। मनुष्य-जीवनकी सफलता उसकी कल्पनाके परेकी सुमति, सुगति और सुसंगति इसीमें है। वस्तुतः मति, परमगति और परमसम्पत्ति तो वह है जिसमें अन्य सभी प्रकारकी मति, गति और सम्पत्तिकी आवश्यकता ही न रह जाय। परम वस्तु भी वही है जो कभी नष्ट न हो। नष्ट होनेवाली स्थिति चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न हो, अन्तमें दुःखदायी ही है। कभी नष्ट न होनेवाली और सदा साथ देनेवाली बस एक ही वस्तु है और वह है—श्रीहरि-चरणोंमें प्रेम।

जिस व्यवहारमें अपने सुखकी चाह है, वहाँ 'काम' है। काम चाहता है अपना सुख, प्रेम चाहता है प्रेमास्पदका सुख। यही काम और प्रेममें वास्तविक अन्तर है। प्रेममें एकमात्र यही लालसा होती है कि हमारा प्रेमास्पद सुखी हो और उसे सुखी देखकर हमें आनन्द मिलता रहे। 'प्रेम अब पूर्णताको प्राप्त हो गया'—ऐसी बुद्धि एक सच्चे प्रेमीकी नहीं होती। प्रेममें अल्पबुद्धि है ही नहीं। प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़नेवाला है—**'प्रतिक्षणवर्धमानं प्रेमस्वरूपम्।'** प्रेम कहीं रुकता नहीं। वहाँ तो ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी नीची मालूम होती है। प्रेमके आनन्दकी थाह नहीं है। इस प्रेमको प्राप्त करनेके लिये अन्य समस्त मति, गति और सम्पत्तिकी ओरसे आँखें फेरनी पड़ती हैं। यह बात सांसारिक प्रेममें लागू नहीं होती। भगवत्प्रेम ही ऐसा विलक्षण होता है जहाँ त्याग और लगनके सिवा और किसी भावके लिये स्थान नहीं है। वहाँ 'निजसुख' या अपने स्वार्थका भान ही नहीं रहता। प्रेमास्पदके सुख-सम्पादनकी सतत इच्छा और उसके दिव्य प्रेममें आकृष्ट डूबे रहनेकी ही मात्र लालसा रहती है। भगवान् कहते हैं कि मेरे प्रेमी भक्त किसी भी वस्तुको नहीं चाहते, उनके मनमें मेरे प्रेमके सिवा अन्य किसी भी वस्तुकी आकाङ्क्षा होती ही नहीं—

सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भागवत ३। २९। १३)

ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि गतियोंको नहीं चाहते। इन गतियोंसे प्रेमकी गति ऊँची है, उसके प्रति खिंचाव हो जानेसे सहज ही इनसे मन हट जाता है। इस प्रकार श्रीभगवच्चरणारविन्दमें अनन्य प्रेमसे बढ़कर कोई ऊँचा भाव नहीं है, मनुष्य-को बस इसी भगवत्-प्रेमकी अभिलाषा करनी चाहिये। यह तो हुई भावकी बात। परंतु भावके साथ गुण भी चाहिये। बिना गुणोंके भाव टिकते नहीं। भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक जो भी गुण हैं उन सभी दैवी सम्पत्तिके

गुणोंको अपनेमें धारण करना चाहिये। दैवी सम्पत्तिके गुण, गुणोंसे मुक्त कर देते हैं और हम **'निस्त्रैगुण्य'** स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं—**'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'**—दैवी-सम्पदा मुक्तिका और आसुरी-सम्पदा बन्धनका कारण है; परंतु सावधानी यह रहनी चाहिये कि इन सद्गुणोंका ही आश्रय न लिये रहे। प्रभुका परम आश्रय तो एक क्षणके लिये भी न छूटे, हम निर्भर तो एकमात्र भगवान्‌पर ही रहें और सद्गुणोंको बढ़ाते जायँ। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, क्षमा आदिके द्वारा यदि हम मान, बड़ाई, यश आदि चाहें तो हमारा यह भाव नीचा ही है। इन गुणोंको ही ईश्वर-भक्ति मान लेना भ्रम है। भाव नीचा होनेके कारण मान, धन, यश आदिकी इच्छाएँ प्रबल होंगी। साधनामें भाव होता है प्रधान और साधन होता है गौण। इस कारण धीरे-धीरे जब यह देखेंगे कि इन गुणोंके धारण करनेपर भी मान, बड़ाई, यश, कीर्ति नहीं मिल रही है तो बस इन गुणोंको व्यर्थ समझकर छोड़ देंगे। होना तो वास्तवमें यह चाहिये कि भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेके लिये इन गुणोंको अर्जित किया जाय। अपनेको बड़ा गुणवाला और दूसरोंको कम गुणवाला मानकर चलनेवाला व्यक्ति भारी भ्रममें है और इस प्रकार अपनेमें जिन गुणोंका उसने अधिरोप कर रक्खा है, वास्तवमें वे गुण उसमें हैं ही नहीं। अतएव ऊँचे भावके साथ ऊँचे गुण और ऊँचे गुणोंके साथ ऊँची क्रियाएँ भी होनी चाहिये। भगवान्‌का भजन करते हैं, परंतु इस दूषित भावसे कि अमुक लाभ हो जाय, हमारे अमुकका अनिष्ट हो जाय, हमें धन और यश प्राप्त हो जाय तो ऐसा भजन निम्न श्रेणीका ही समझा जाना चाहिये। भजन करते हैं और साथ ही अन्याय और अत्याचार भी करते हैं तो यह भजन नहीं चाहे और कुछ भले ही हो। इसमें नीच भाव होनेसे ही भजन-साधन सम्पन्न होता है। इनमें पारस्परिक सम्बन्ध है। इन तीनोंमेंसे कोई भी एक लिया जाय तो वह उत्तम है, पर साधन तबतक सफल नहीं हो सकता, जबतक तीनों साथ न हों। तीनोंके मिलनेपर जो चीज तैयार होती है, वह बहुत ही उत्तम और कल्याणदायी होती है।

अवगुणोंके रहते हुए साधन करना चलनीसे पानी भरना है। चलनी गीली हो जायगी पर उससे पानी नहीं भरा जा सकेगा। थोड़ी-सी तुच्छ बातोंके लिये हम साधनको बेच देते हैं। जहाँ ऊँचा भाव नहीं है, वहाँ बहुत छोटी कामनाओंमें हमारा मन लिप्त होकर हमारे भजनको बेच देता है। जहाँ नामके लिये भजन होता है, वहाँ बड़ा पाप है। हम भजन तो करें भगवान्‌का और माँगें हम उनसे स्वसुख-कामनाएँ, यह नहीं होना चाहिये। यह पाप है, हमारा अज्ञान है। भगवान् तो हमारे परम सहायक, परम करुणाकर और उदार हैं। वात्सल्यसे पूर्ण है उनका हृदय। अबोध शिशु माँसे यदि चाकू माँग बैठता है तो माँ उसे उस वस्तुको दे देती है, वह उसकी सँभाल भी रखती है। यदि बुद्धिके अभिमानको छोड़कर हम बच्चे बन जायँ तो भगवान् हमारी सँभाल रखेंगे ही। भगवान् तो सद्वैद्य हैं, दवा परोक्ष नहीं। जिसमें हमारा हित होता है, वही भगवान् करते हैं। भगवान् हमारे सच्चे हितको जानते हैं और इसीलिये हमारे मनकी न करके हमारे हितकी करते हैं। नारद-मोहकी कथा सब जानते हैं। नारदजीको अभिमान हो गया था कि काम और क्रोधको मैंने जीत लिया है। प्रभुने दया करके उनकी आँखें खोलनेके लिये ही माया रची। उन्हें अपना सारा रूप दे दिया पर मुँह दिया बन्दरका। फलस्वरूप नारदजीको मायारूपी स्वयंवरकी कन्यापर कामासक्ति और भगवान् नारायणपर क्रोध हुआ। इस कथाका अभिप्राय यही है कि जहाँ भगवान्‌का आश्रय नहीं है और केवल गुणोंका आश्रय है, वहाँ मुँहकी खानी पड़ती है।

चाहिये यह कि हम भगवान्‌का तो लें आश्रय और साधनद्वारा अपने सद्गुणोंको बढ़ाते जायँ, भाव खूब ऊँचे रखें और आचरण भी उसके अनुकूल ही हो। सच्चे भक्त तो यहाँतक कह देते हैं कि प्रभो! आप हमें तभी दर्शन दें जब हम दर्शन पानेके योग्य बन जायँ, नहीं तो आपका दर्शन भी कलङ्कित होता है। पर बात यह होती है कि कहीं तो भजन नहीं होता; कहीं केवल सद्‌गुणोंकी प्राप्तिको ही सफलता मान ली जाती है और कहीं भाव निम्न श्रेणीका होता है। अतः इस प्रकारके भजन-साधनसे सफलता नहीं मिलती और सफलता न मिलनेसे भजन स्वतः ही छूट जाता है।

हम मानव तीन गुणोंके समष्टीकरण हैं—सत्, रज और तम। सत् अर्थात्—सद्‌गुण ही मनुष्यकी उन्नतिका मूल है। गुण, भाव और आचरण परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं। सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेसे मन-बुद्धिमें प्रकाश और आनन्दकी प्राप्ति होती है। रजोगुण प्रवृत्तिमें ढकेलता है और तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रासे ढक देता है। प्रकृति तो स्वभावतः अधोगामिनी ही है। भोगोंकी अनुचित लालसा अधिकाधिक बढ़ती है। जहाँ लोभ बढ़ा, वहाँ प्रवृत्ति बढ़ी। जहाँ अत्यन्त लोभ है वहीं अशान्ति है, क्योंकि बुद्धि बहुमुखी हो जाती है। फिर तो अमित इच्छाओंकी बाढ़ आ जाती है। जहाँ स्वाभाविक इच्छा हुई कि साँस लें, सुख-भोगकर लें; बस, यहीं यथेच्छाका श्रीगणेश हो गया। इसलिये सावधानीपूर्वक सदा जागरूक रहकर सद्गुणोंकी ओर निरन्तर प्रवृत्त रहना चाहिये। यह प्रयत्न बराबर चालू रहे। अपना भाव सदा ऊँचा-से-ऊँचा रखे, प्राप्त सद्गुणोंमें ही संतोष न कर ले और दूसरेकी ओर दृष्टि न रखते हुए साधनको उत्तरोत्तर बढ़ाता रहे। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दूसरेमें गुण बराबर ही देखें जिससे उस गुणके लिये अपने भीतर सदैव स्पृहा बनी रहे। दूसरेके दोष न देखे; अन्यथा स्वभाव पड़ जानेपर सभीमें दोष-ही-दोष दीखेंगे और संस्कारवश वे दोष हमारे भीतर भी आ जायेंगे। दूसरोंके दोष देखने-सुननेमें भी मनुष्यको एक प्रकारका रस मिलता है; पर है यह विष-तुल्य और पतनकारी।

इसलिये कहा है **'नान्यत् दोषेषु रमते'**—दूसरोंके दोषोंमें आनन्द न लें—मनसे उन्हें देखना या सुनना न चाहें; अन्यथा हमारा हृदय तज्जनित संस्कारवश उन दोषोंसे भर जायगा। देखना ही हो तो अपनी कमजोरीको देखे। आत्मनिरीक्षणके द्वारा अपने एक-एक दुर्गुणको निकालता रहे। अपनेको पूर्ण मानना ही अपूर्णता है; पूर्णताकी स्थितिमें तो न पूर्णका बोध है न अपूर्णका। वह तो अनिर्वचनीय स्थिति है।

भगवत्सेवन, भगवदुपासना ऐसी वस्तु है कि यदि इसे हम बेचना चाहें तो वह भी बिक नहीं सकती। उसके शुभ संस्कार हमारे अन्तरमें गहरे पैठ जाते हैं। यदि एक बार भी हमारा हृदय भगवत्सेवामें और प्रेममें संलग्न हुआ तो फिर इसका अंश रह ही जाता है। भजन कभी सर्वथा निर्मूल नहीं हो सकता। जैसे एक नन्हीं-सी चिनगारी यदि राखकी ढेरमें छिपी रह जाती है और हवा बहनेसे जब राख उड़ जाती है और साधन मिल जाते हैं तो वही प्रज्वलित अग्निके रूपमें परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार सच्ची साधना और उसके संस्कार भी कभी मिटते नहीं; मिट सकते नहीं; उचित अवसर तथा काल और व्यवस्था पाकर लहक उठते हैं। भजन पापको भस्म कर डालता है। भजनका प्रभाव अमोघ है। इसीलिये तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

भाव और गुणके साथ भजन भी चलना चाहिये। ऐसा भजन ही शीघ्र फलदायी होता है। रोगसे निवृत्त होनेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता है—(१) कुपथ्यका त्याग, (२) सुपथ्यका ग्रहण और (३) औषधका सेवन। भवतापतापित मानवजीवनको ठीक

करनेके लिये भजन संजीवनी बूटी है। यही सब तापोंका नाश करनेवाली अमृतलता है—**'सर्वतापशमनैक भेषजम्।'** इसमें जिसका जितना अधिक प्रवेश है वह उतना ही भगवत्प्रेमका दिव्य मधुर फल प्राप्त करता है। अतः सब बातोंको छोड़कर भगवद्भजन ग्रहण करना चाहिये। दिन-प्रति-दिन अपने भजन-साधनको तीव्र करना चाहिये। भजनके बढ़ते ही पापकी गठरी जलकर स्वतः भस्म हो जाती है। यह न मान बैठें कि पाप करते रहो, छोड़नेकी जरूरत नहीं। पापोंको तो भजन मिटा ही देगा; किन्तु सोचिये, जहाँ रात-दिन पापमें आसक्ति है, वहाँ भला भजन कैसे हो सकता है? उस स्थितिमें भजन कदापि नहीं हो सकता। वहाँ तो पापका ही पोषण होता है। भजनके साथ पापोंकी ओर भी चित्तवृत्ति रहे, यह दोनों कैसे हो सकता है? दोनोंमें एक ही स्थिति रह सकती है।

पापीका यह स्वभाव हो जाता है कि उसे भगवान् हरिका भजन अच्छा नहीं लगता। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

मानसमें भी भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

भजन ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले आसुरीभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते हैं। ऐसे लोगोंके भी संस्कार, वातावरण, उद्योग तथा अध्ययनके द्वारा बुद्धि निर्मल हो जाती है और वे धर्मात्मा हो जाते हैं। पापी सदा पापी ही रहे—ऐसा विधान प्रभुका नहीं है, वहाँ तो सबके लिये सुधारका द्वार खुला है।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९। ३०)

भगवान् कहते हैं कि 'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

इतना ही नहीं, वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'** अतः अपने बीते हुए समय—भूतकालकी चिन्ता छोड़कर वर्तमानको प्राणपणसे सुधारना चाहिये। जो वर्तमानको सुधारता है उस व्यक्तिका भविष्य भी सुधरा हुआ है। जहाँ सर्वाङ्गीण सर्वतोभावसे समर्पण हुआ, वहीं वह हरिके चरणोंमें स्वीकार हो जाता है। तब हम एकदम निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त हो जायँगे। जबतक प्रभुको हमारा समर्पण स्वीकार नहीं होता, तबतक निरन्तर समर्पणकी भावना करते रहना चाहिये। इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़से दृढ़तर बनाते जायँ। मनमें यह धैर्य रहे कि जीवनकी गति ईश्वरोन्मुख होगी; हमारा मन, शरीर, वातावरण—सभी कुछ भगवान्की ओर लग जायँगे। हमारे खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने आदिकी सब क्रियाएँ भगवत्प्रीतिके लिये ही हों। यदि विपरीत परिस्थितिमें रहना पड़े तो एक बात सदा स्मरण रखें—अपना लक्ष्य। लक्ष्यका नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहनेसे मनुष्य विपथगामी नहीं हो सकता। लक्ष्यके भ्रष्ट होनेसे ही हमारा पतन होता है। लक्ष्यहीनकी सदा दुर्दशा होती है। अतः लक्ष्यको कभी न भूले और सदा उसके अनुकूलका ग्रहण तथा प्रतिकूलका परित्याग करे। यदि हमारा लक्ष्य ठीक रहा और हम उसपर दृढ़तासे आरूढ़ रहें तो लक्ष्यकी प्राप्ति (श्रीभगवत्प्राप्ति) निश्चित है। इस मानवजीवनका एकमात्र यही चरम और परम लक्ष्य है।

मानसमें श्रीरामका स्वभाव

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

मानसमें श्रीभरतजीके ये वचन कैसे हृदयहारी हैं—

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहिं सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥

'रामने जन्म लेकर संसारको उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया। वे स्वरूपतः सौम्य, शीलवान् और सब प्रकारसे सुखद हैं। रामका अमृतमय स्वभाव पुरजन, परिजन, गुरु, पिता, माता आदि सबके लिये सुखकारी था। उनके व्यवहारसे मुग्ध होकर शत्रुगण भी उनकी प्रशंसा करते थे। रामका बोलना, मिलना और विनय अत्यन्त मनोहारी थे।'

श्रीरामका चरित्रवर्णन मर्यादा एवं कर्तव्य-पालनका निदर्शन है और उनके प्रत्येक आचरणमें उनका उत्तम स्वभाव प्रतिबिम्बित होता है। पुरजन, परिजन, गुरुजन, अरिगण आदि सभी उनके चरित्र एवं व्यवहारसे मुग्ध हैं। राम मर्यादा-पालन करते हैं तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। रामकथा प्रारम्भ होनेसे पूर्व महात्मा तुलसीदास कहते हैं कि राम विशुद्ध प्रेमसे प्रसन्न हो जाते हैं—

'रीझत राम सनेह निसोते।' प्रेमकी पवित्रताके द्वारा श्रीरामने वन्य प्राणियोंको अपना सचिव बना लिया—'सचिव सुमति कपि भालु।' राम स्वयं वृक्षके नीचे बैठते थे और वानर ऊपर शाखाओंपर बैठते थे। श्रीरामने उदारतावश ही ऐसे वन्य प्राणियोंको भी अपने समान बनाकर उन्हें भरपूर आदर दिया। तभी तो उन जैसा शील-निधान दुर्लभ है।

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥

वे माता, पिता और गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा-भक्तियुक्त हैं तथा समुदाचारका पालन कैसे करते हैं; देखिये—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

राम माता-पिताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं। राजकुमार राम मुनि विश्वामित्रकी सेवामें सुख मानते हैं और रात्रिमें शयनसे पूर्व अनुजसहित मुनिके चरण दबाते हैं—

'मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥

गुरुजनोंके प्रति आदर और श्रद्धा प्रकट करके श्रीराम उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

पुष्प-वाटिकामें सीताको देखकर रामके चारु लोचन अचञ्चल (स्थिर) हो गये तथा सीताकी शोभासे ठगे-से गये। शुचि रामने अपनी मुग्धावस्थासे चकित होकर अपने अनुज लक्ष्मणसे पवित्र और सहजभावसे अपनी मनोदशाका वर्णन कर दिया—

'बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि।'

श्रीरामने अपने सरल स्वभाववश अपनी मनोमुग्धता-का निष्कपट निवेदन मुनि विश्वामित्रसे भी किया था—

राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥

श्रीराम विषम परिस्थितिमें भी सम रहते हैं। धनुष-यज्ञमें जब जनकने निराश होकर रोषपूर्वक कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥

—तब लक्ष्मणके उत्तेजित होनेपर प्रशान्त रामने संकेत करके उनके आवेशको शान्त कर दिया।

सयनहि रघुपति लखनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥

विश्वामित्रने शुभ मुहूर्तमें श्रीरामको धनुष-भंजन करने-का आदेश दिया। श्रीराम गुरुके वचनोंको सुनकर सहजभावसे उठे—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥

परशुरामकी गर्वोक्ति सुनकर भी राम उत्तेजित नहीं हुए और समभावमें स्थित रहकर ही उन्होंने नम्रतापूर्वक धनुष-भंजन करना सहजरूपमें स्वीकार कर लिया, यथा—

सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरषु बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु॥
नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥

परशुरामकी आक्रामक उग्रता देखकर भी श्रीराम विनीत, मृदु और शीतल वचन ही बोलते रहे। उनका स्वर तनिक भी कठोर न हुआ—

अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुग पानी॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ॥
तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं॥

रामके बोलनेमें सहज माधुर्य है। अति क्रुद्ध परशुरामके सामने वे अपना शील-सौन्दर्य ही बिखेरते रहे। श्रीरामके सुशीतल, विनम्र और अतिशय मृदुल व्यवहारकी परिणति होती है परशुरामजीके आगे अपना सिर झुकाकर क्षमा-याचना करनेमें—

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा॥
जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥
प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोपु।
बेपु बिलोकें कहेसि कछु बालकहूँ नहिं दोपु॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एकु गुन धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥

अत्यन्त उग्र परशुरामको संतोष न हुआ तो वे क्रोधपूर्ण मुद्रासे रामको भयभीत करनेका प्रयत्न करते हुए उन्हें अपमानित करने लगे—

भंजेहु चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा॥

'हे राम! धनुष तोड़नेसे तेरा घमण्ड बढ़ गया है और तू समझ रहा है कि संसारको जीतकर खड़ा है।' विनम्र होकर भी राम निर्भीक एवं दृढ़ हैं। राममें क्षात्र-तेज और शालीनता, शौर्य और मृदुताका सुन्दर समन्वय है। परशुरामकी अपमानजनक गर्वोक्तिके उत्तरमें रामने दृढ़तापूर्वक कहा—हम आपका आदर करते हैं; किंतु भय नहीं मानते हैं—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥
देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पाँवर आना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥

रामके गूढ़ वचन सुनकर परशुरामके अन्तःकरणमें प्रकाश हो गया और उन्होंने रामसे क्षमा-याचना की।

विवाहके समय अवसरके अनुरूप श्रीराम सुनयनाजी (अपनी सासु) से विदा माँगते समय शील, स्नेह और संकोचसे युक्त वाणी बोलते हैं—

बोले राम सुअवसरु जानी। सील सनेह सकुचमय बानी॥

गुरुके प्रति राम विशेष आदरभाव प्रदर्शित करते हैं। राज्याभिषेकके सन्दर्भमें रामने वसिष्ठ मुनिके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया तथा उनकी पूजा की। उनका उपदेश प्राप्त करनेके लिये सीतासहित श्रीरामने उनके चरण पकड़ लिये तथा करबद्ध होकर कहा— मैं तो आपका सेवक हूँ। आपके पधारनेसे मेरा स्थान पवित्र हो गया है—

सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥
सुनि सनेह साने बचन मुनि रघुबरहि प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस हंस बंस अवतंस॥

इसलिये मुनिने रामके गुण-शील और स्वभावका प्रशंसापूर्ण वर्णन किया—

'बरनि राम गुन सील सुभाऊ'

राज्याभिषेकसे पूर्व कैकेयीके भवनमें अपने वृद्ध पिता दशरथको दुखी देखकर दयावन्त राम द्रवित हो गये। 'करुनामय मृदु राम सुभाऊ—।' कैकेयीने निष्ठुर

होकर दो वर माँगनेका प्रसंग रामको सुना दिया—रामका वनगमन और भरतका राज्याभिषेक। सहज प्रसन्न रामने मनमें मुस्कराकर सब दूषणोंसे रहित मृदु और मञ्जुल शब्द कहे, जो मानो वाणीके भूषण ही थे।

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। राम सहज आनंद निधानू॥
बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥
सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिषु माँगी॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥

श्रीरामको यह आश्चर्य लगा कि छोटी-सी बातपर राजा दुखी हैं। रामके सहज सरल वचन कैकेयीको कुटिल प्रतीत हुए। 'सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।' राजा दशरथ स्तब्ध थे। रामने उन्हें प्रेम-विवश देखकर स्थान, समय और अवसरके अनुसार विनयपूर्ण आत्मनिवेदन किया—

देस काल अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी॥
तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई॥
अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाँइहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई॥
बिदा मातु सन आवउँ मागी। चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी॥

श्रीराम सहजभावसे अयोध्याके राज्यका तथा अपने प्रिय स्वजनोंतकका त्याग कर देते हैं। कर्तव्य-पालन ही अब उनका एकमात्र धर्म है। राम कर्तव्य-पालनके लिये ही वनगमनके घोर कष्टको सहर्ष स्वीकार करते हैं।

मन प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ॥

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥

रामको त्यागके लिये प्रस्तुत होनेमें सोच-विचार या प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। राम सहजभावसे अपने अधिकारका परित्याग कर देते हैं। कर्तव्य-पथपर आरूढ़ श्रीराम माता कौसल्यासे वन-गमनके लिये मृदु वाणीमें आज्ञा माँगते हैं—

धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥

बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥

रामने अपने पिता तथा विमाता कैकेयीको कभी दोष नहीं दिया और चौदह वर्षके सुदीर्घ वनवासको अपना सौभाग्य ही समझा। सरल रामकी माता भी सरल हैं तथा रामकी भाँति धर्मज्ञ हैं। तभी तो कौसल्या सहर्ष वनगमनकी आज्ञा दे देती हैं।

सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥

राज देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

और भी—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

राम माताको उठाते हैं, उनके हृदयसे लग जाते हैं और मृदु वचन कहकर उन्हें समझाते हैं—

राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई॥

श्रीरामने प्रिय एवं विवेकमय वचन कहकर माताका परितोष किया—

कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परितोष॥

(क्रमशः)

गीताका कर्मयोग—९

(श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क १०, पृष्ठ-संख्या ४०२ से आगे]

सम्बन्ध—

पाँचवें श्लोकमें यह कहा गया है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि मनुष्य इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोककर भी तो अक्रिय हो सकता है। ऐसे मनुष्यको मिथ्याचारी अर्थात् पाखण्डी बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि मनुष्य जबतक प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह अक्रिय हो ही नहीं सकता; क्योंकि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है।

श्लोक—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ—

जो मनुष्य दसों इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों) को हठपूर्वक रोककर अर्थात् बाहरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग करके, मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए बैठता है, वह यद्यपि बाहरसे अक्रिय है, तथापि मनसे विषयोंका चिन्तन होनेके कारण उसका कर्मोंके साथ (मानसिक) सम्बन्ध बना हुआ ही है। अतः ऐसा मनुष्य मिथ्याचारी कहलाता है। यद्यपि वह मूर्ख मनुष्य यह समझता है कि मैं कर्म नहीं कर रहा हूँ, पर उसका मन निरन्तर कर्ममें ही रत है। अतएव यह दम्भ, पाखण्ड और विवेक-शून्यता ही है, जो सर्वथा त्याज्य है।

अन्वय—

यः, विमूढात्मा, कर्मेन्द्रियाणि, संयम्य, मनसा, इन्द्रियार्थान्, स्मरन्, आस्ते, सः, मिथ्याचारः, उच्यते ॥६॥

पद-व्याख्या—

यः—जो।

विमूढात्मा—मूढ़ बुद्धिवाला अर्थात् सत्-असत्के विवेकसे रहित मनुष्य।

कर्मेन्द्रियाणि—कर्मेन्द्रियों (समस्त इन्द्रियों) को।

यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका अभिप्राय पाँच कर्मेन्द्रियों (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) से ही नहीं है, अपितु इसके साथ ही पाँच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण) से भी है, क्योंकि बिना ज्ञानेन्द्रियोंके केवल कर्मेन्द्रियोंसे कर्म नहीं हो सकते। इसके सिवा केवल हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोकनेसे तथा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंको न रोकनेसे मिथ्याचार भी सिद्ध नहीं होता अर्थात् मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता।

संयम्य—हठपूर्वक रोककर।

यद्यपि 'संयम्य' पदका अर्थ होता है—इन्द्रियोंका भलीभाँति नियमन अर्थात् उन्हें वशमें करना, परंतु यहाँ इस पदका अर्थ इन्द्रियोंको वशमें करना न होकर उन्हें हठपूर्वक ऊपरसे रोकना ही है, क्योंकि इन्द्रियोंके वशमें हो जानेपर उसे मिथ्याचार कहना नहीं बनता।

मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते—मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है।

वह मूढ़ मनुष्य बाहरसे तो इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोक देता है, परंतु मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है। इस कारण इन्द्रियोंको बाहरी क्रियाओंसे रोकनेपर भी उसका सम्बन्ध विषयोंके साथ सदा बना रहता है।

सः मिथ्याचारः उच्यते—वह मनुष्य मिथ्याचारी अर्थात् मिथ्या आचरण करनेवाला कहा जाता है।

यद्यपि उसने इन्द्रियोंके विषयोंको बाहरसे त्याग दिया है और ऐसा समझता है कि मैं कर्म नहीं करता हूँ, परंतु ऐसी अवस्थामें भी वस्तुतः वह कर्मरहित नहीं हुआ है, क्योंकि बाहरसे क्रियारहित होनेपर भी कामना, ममता, आसक्ति और अहंताके कारण रागपूर्वक विषय-चिन्तनके रूपमें वास्तविक विषय-भोग तो हो ही रहा है, जो कर्म है।

सांसारिक पदार्थोंको बाहरी क्रिया एवं मन—दोनोंसे भोगा जा सकता है। दोनों ही अवस्थाओंमें भोगोंके संस्कार प्रायः एक समान ही पड़ते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि मनसे भोगे जानेवाले भोगोंके संस्कारोंका पता कर्ताको नहीं लगता और ऊपरसे दम्भ भी होता है। अतः उसका आचरण मिथ्या तथा वह मिथ्याचारी अर्थात् पाखण्डी कहलाता है। मनसे विषयोंका चिन्तन होनेसे विशेष हानि होती है; क्योंकि इसके सेवनका विशेष अवसर मिलता है।

शङ्का—प्रायः सभी साधक जब एकान्तमें इन्द्रियोंको रोककर बैठते हैं, तब उनके मनसे भी विषयोंका चिन्तन होता है, तो क्या वे भी मिथ्याचारी हैं?

समाधान—साधक अपने मनसे संसारका चिन्तन करना कभी नहीं चाहता; क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य अपना कल्याण होता है। यद्यपि सांसारिक सुख लेना अथवा उसका चिन्तन करना उसका उद्देश्य नहीं होता, तो भी पुराने संस्कारवश उसके मनके द्वारा (न चाहते हुए भी) संसारका चिन्तन हो जाता है। इसके विपरीत मिथ्याचारी पुरुष अपनी इच्छासे, अपने सुखके लिये संसारका चिन्तन करता है, अतएव वह दोषी एवं कर्ता होता है। साधक और मिथ्याचारी पुरुषकी ऊपरी अवस्था एक-सी होनेपर भी वास्तविक स्थितिमें रात-दिनकी भाँति महान् अन्तर होता है। दोनोंका उद्देश्य भिन्न-भिन्न होनेके कारण ही एक साधक कहलाता है, दूसरा मिथ्याचारी। साधकका उद्देश्य विषय-चिन्तन नहीं होनेके कारण उसके पुराने संस्कार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, परंतु मिथ्याचारीका उद्देश्य विषय-चिन्तन होनेके कारण उसमें ये संस्कार उत्तरोत्तर दृढ़ ही होते जाते हैं।

शास्त्रविहित विषयोंको भोगकर त्याग देनेमें उतनी हानि नहीं है, जितनी हानि विषयोंका चिन्तन करनेमें है। गीता बतलाती है कि केवल विषयोंका चिन्तन करनेसे परिणाममें बुद्धिका नाश होकर पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)—जबकि रागद्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करनेसे अन्तःकरणकी प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है (गीता २। ६४-६५)। इससे तात्पर्य यह निकला कि मनके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसका त्याग करना परमावश्यक है।

साधकको स्वतः होनेवाले संसारके चिन्तनसे घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि जो कर्म अपने-आप (बिना इच्छाके) होता है, उसके फलका भागी कोई नहीं होता। साधकका एकमात्र उद्देश्य अपना कल्याण होता है, अतः उसे चाहिये कि वह अपने उद्देश्यको जाग्रत् रखते हुए साधनमें तत्परतापूर्वक लगा रहे तथा शास्त्रनिषिद्ध चिन्तनके अनुसार कोई क्रिया न करे। इससे उसका उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

अर्जुन भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते हैं, इसलिये इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें वे भगवान्‌से पूछते हैं कि हे भगवन्! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? इसके उत्तरमें यहाँ भगवान् कहते हैं कि अन्तःकरणमें अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि रखते हुए केवल बाहरसे कर्मोंका त्याग कर देनेसे मनुष्य कर्म-रहित नहीं हो सकता, अपितु ऐसा मनुष्य मिथ्या-

चारी होता है। इस प्रकारके ऊपरी त्यागसे हानि ही होती है, लाभ नहीं। तात्पर्य यह है कि साधकको कर्मोंका खरूपसे त्याग न करके उन्हें कामना-आसक्तिसे रहित होकर तत्परतापूर्वक करते रहना चाहिये।

कर्मयोगकी दृष्टिसे जो भी वर्णधर्मानुकूल शास्त्र-विहित कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जायँ, वे चाहे घोर हों या सौम्य, नियत-कर्म ही हैं। नियत-कर्म अवश्य करने हैं। जिसे नहीं करना चाहिये एवं जिसे नहीं कर सकते, उस कर्मको नहीं करना चाहिये।

मार्मिक बात

साधक जब ध्यान करने बैठता है तो उसके अन्तः-करणमें सांसारिक चित्र आने-जाने लगते हैं। यद्यपि साधकका उद्देश्य परमात्म-चिन्तन ही होता है अर्थात् वह विषय-चिन्तन नहीं करता और करना चाहता भी नहीं, तथापि वैसा चिन्तन होनेसे उसे घबराहट होती है। इस घबराहटको दूर करनेके लिये एक मार्मिक बात बतलायी जाती है।

साधकको दृढ़तापूर्वक यह मान लेना चाहिये कि मन (अन्तःकरण) 'मेरा' नहीं है और 'मेरे लिये' भी नहीं है। अतएव मनमें होनेवाले संकल्प-विकल्पोंके साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं (खयं) रहनेवाला हूँ और ये संकल्प-विकल्प उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले हैं। रहनेवालेका सम्बन्ध आने-जानेवालेके साथ कभी हो ही नहीं सकता। मनको 'मेरा' मानने अथवा उसके साथ एकता करनेसे ही घबराहट होती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मनको 'अपना' और 'अपने लिये' नहीं माने, मनके साथ एकता न करे तथा सांसारिक चिन्तनके साथ भी राग-द्वेष न करके उसकी उपेक्षा कर दे। उपेक्षा कर देनेसे ऐसे चिन्तनका खतः अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिस चिन्तनसे साधक घबराता है, उस चिन्तनमें भी परमात्मा है—ऐसा जान लेनेपर उस चिन्तनमें घबराहट पैदा करनेकी शक्ति नहीं रहती। दूसरी युक्ति यह भी है कि चिन्तन हमारे किये (चाहे) बिना होता है, उसका फल हमें नहीं मिल सकता। हमारे चाहे बिना संसारमें अर्थात् सब प्राणियोंके भीतर अनेक प्रकारके चिन्तन होते रहते हैं, तो क्या हमें उनका फल मिलता है?

'कर्म'का सम्बन्ध वर्तमानके साथ होता है, परंतु 'चिन्तन'का सम्बन्ध भूत अथवा भविष्यत्के साथ होता है। चिन्तन उन्हीं घटनाओं या परिस्थितियोंका होता है जो भूतकालमें घटी हैं, वर्तमानमें 'नहीं' हैं अथवा भविष्यमें जिनके होनेकी सम्भावना है। तात्पर्य यह है कि जो वर्तमानमें नहीं है, उन्हीं घटनाओं या परिस्थितियोंका चिन्तन होता है। अतएव जो 'नहीं' है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना साधककी महान् मूर्खता ही है। इसके विपरीत 'है' के रूपमें परमात्मा तीनों (भूत, भविष्य और वर्तमान) कालोंमें भी हैं, मनमें भी हैं, मनमें होनेवाले चिन्तनमें भी हैं, चिन्तन न होनेमें भी हैं, बुद्धिमें भी हैं तथा 'मैं'पन (अहं-भाव) में भी हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा सब जगहोंमें, सब समयोंमें, सब व्यक्तियोंमें तथा सब वस्तुओंमें हैं। इसलिये साधकको इस बातपर विचार करना चाहिये कि जो 'नहीं' है, उसीका चिन्तन होता है और वह खतः ही मिट जायगा। अतः साधक उसकी उपेक्षा कर दे और 'है' में अपनी स्थिति (जो सदासे है) मानकर निश्चिन्त हो जाय। ऐसा माननेसे जो 'नहीं' है, उसका (अर्थात् संकल्प-विकल्पका) खतः अभाव हो जायगा और नित्य रहनेवाला 'है' रह जायगा।

(क्रमशः)

सुख-दुःख

(लेखक—श्रीशिवेन्द्रप्रसाद गर्ग 'सुमन')

'महाभारत'में श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है कि सुखके बाद दुःख आता है और दुःखके बाद सुख। मनुष्यके दुःख और सुख गाड़ीके रथके चक्रकी तरह घूमते रहते हैं। पर न सुख स्थायी है और न दुःख। किंतु हमारी दुर्बलता यह है कि हम सुख-दुःख पाकर पागल-से हो जाते हैं।

सुख-दुःख—विशेषकर दुःख समझदार व्यक्तिकी परीक्षाकी घड़ी होते हैं। इन क्षणोंमें मनका उद्विग्न होना, हर्षातिरेकमें आना या उद्वेगमें धैर्य खो देना उचित नहीं। जो व्यक्ति ईश्वरमें अगाध विश्वास रखता है, वह दुःखको प्रारब्धप्रदत्त भगवान्‌का प्रसाद मानकर और अन्तमें उसे ईश्वरका ही रूप मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है। श्रीभगवान् गीतामें स्पष्ट कहते हैं—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(५। २०)

आजका दुःख निश्चय ही सुनहले कलका प्रतीक है। आज आप दुःखी हैं तो इसका अर्थ है कि आनेवाले कल आप खुश होंगे। प्रसादजीने कहा है—

दुःखकी पिछली रजनी बीच।
विकसता सुखका नवल प्रभात॥

दुःख मनुष्यके विकासका भी साधन है। सच्चे मनुष्यका जीवन दुःखमें ही खिल उठता है। सोनेका रंग तपानेपर ही चमकता है। 'छान्दोग्य उपनिषद्'के अनुसार जबतक यह शरीर बना हुआ है, तबतक सुख और दुःखका निश्चयपूर्वक निवारण नहीं हो सकता।

उर्दूके एक कविने कहा है—

इशरत कतरा है दरिया में फना हो जाना।
दर्दका हद से गुजरना है दवा हो जाना॥

सादी कहते हैं—'दुःख भोगनेसे सुखका मूल्य ज्ञात होता है। जिसने दुःख पाया नहीं, वह सुख क्या जाने? दुःख हमें ईश्वरके निकट ले जाता है।' महाभारतमें लिखा है—दुःख रहता है तो दुःखियोंके प्रति हमदर्दी रहती है और भगवान्‌का निरन्तर स्मरण होता है। सुखमें मनुष्यका हृदय निष्ठुर बन जाता है, वह भगवान्‌को भूल जाता है। पर व्यक्ति यदि सुखमें ही ईश्वरको याद कर ले तो फिर दुःखोंका कारण ही न हो—

दुःखमें सुमिरण सब करे, सुखमें करे न कोय।
सुखमें जो सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होय॥

भगवान्‌की शक्तिके सामने सभी दुःख अस्थायी एवं क्षणिक हैं। ईश्वर भी उन्हें ही कष्ट देता है, जिन्हें वह चाहता है। अतः दुःख तो ईश्वरकी कृपाका ही प्रतीक है।

इस विषयमें श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने एक स्थानपर लिखा है—'सुख चाहते हो, तो दूसरोंको सुख दो, मान चाहते हो, मान प्रदान करो, हित चाहते हो, हित करो और बुराई चाहते हो तो बुराई करो! जैसा बीज बोओगे वैसा ही फल मिलेगा। फलकी न्यूनाधिकता जीवनके अनुसार होगी।' हम दूसरोंसे जैसी अपेक्षा करते हैं, खुद भी वैसा ही आचरण करें; क्योंकि किसीको दुःख देकर खुद सुखी नहीं बना जा सकता—

चार बेद छः शास्त्रमें, बात मिली है दोय।
सुख दीने सुख होत है, दुख दीने दुख होय॥

किसीने क्या ही सच कहा है—'संसारकी किसी भी वस्तुमें सुख नहीं है, अतः वह किसी भी बड़े-से-बड़े वैभवद्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता।' सुख तो मनकी एक स्थिति है जो आत्मसाधनद्वारा प्राप्त होता है—वस्तुतः सुखका कारण मन ही है। संसारमें न सुख है, न दुःख—यह तो हमारे अपने सोचनेके अनुसार ही है।

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(२। १४)

कविकुलगुरु श्रीकालिदासजी भी कहते हैं—किसीको सुख अथवा एकमात्र दुःख नहीं मिलता—दुःख और सुख रथके पहियेकी तरह कभी ऊपर और कभी नीचे चलते रहते हैं—

कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥
(मेघदूत)

श्रीराजगोपालाचारी भी कहते हैं—'जीवनमें सबसे महान् सुख किसी वस्तुको त्यागकर चले जानेमें है। सबसे महान् सुख किसी वस्तुकी प्राप्तिमें नहीं, वरन् उसके त्यागमें है।' वस्तुतः अति सुख भी पीड़ाका कारण होता है। अनचाहतकी प्राप्ति और चाहतकी अप्राप्ति—ये दो ही कारण दुःखके बताये गये हैं। 'ईशावास्योपनिषद्' के अनुसार अन्य धनका त्याग करते हुए ही उसका भोग करे, अर्थात् सुखसे दूर रहकर ही जीवन व्यतीत करे।

व्यक्ति जितना सुखोंके पास जायेगा, सुख उतने ही परे खिसकेंगे। सुखोंकी उपेक्षा करो तो सुख स्वयं आपका पीछा करेंगे। गीताकारने सुखका रहस्य त्यागमें बताया है। गांधीजी भी कहते हैं—'सच्चा सुख बाहरसे नहीं मिलता, अंदरसे मिलता है—तभी उन्होंने कहा था—बाहर नहीं, भीतरकी ओर देखो। वे आगे कहते हैं—सुख, जो कुछ तुम त्याग कर सकते हो, उसपर आधारित हैं, जो कुछ तुम पा सकते हो, उसपर नहीं।' 'प्रेम-पचीसी'में प्रेमचन्द्रजीने लिखा है—सुख-भोगकी लालसा आत्मसम्मानका सर्वनाश कर देती है। वैसे भी जब अन्य व्यक्ति पीड़ित हैं, दुःखी हैं, ऐसेमें खुदका सुख माँगना निकृष्टता है, यह परम स्वार्थ है। टेनीसन भी कहते हैं, 'इस जीवनमें मनुष्यका सुख वासनाओं-के अभावमें नहीं है, वरन् उसपर शासन करनेमें है।'

सुख और दुःख भावनाओंपर निर्भर करते हैं। यदि मनःस्थिति अनुकूल नहीं है तो सामान्यतया सुखकारक लगनेवाले पदार्थ भी दुःख ही देते हैं। हम किसी महान् उद्देश्यके प्रति स्वयंको समर्पित कर महान् सुख पा सकते हैं। जार्ज बनार्ड शॉं कहते हैं—'यही जीवनका सच्चा सुख है—ऐसे उद्देश्यमें जिसे तुम स्वयं ही महान् समझते हो काम आ जाना, इसके पहले कि तुम घूरेपर रद्दीकी तरह उठाकर फेंक दिये जाओ, काम करते-करते पूर्णरूपसे पिस जाना।' स्वामी विवेकानन्द भी सच्चा सुख स्वार्थनाशमें ही बताते हैं। शैक्सपीयर भी सद्गुणोंको ही सुख मानते हैं। 'धम्मपद'में शान्तिको ही सबसे बड़ा सुख बताया गया है।

वस्तुतः हम दुःखोंसे बहुत ज्यादा घबरा जाते हैं और सुखोंसे जरूरतसे अधिक मोह रखते हैं, वरना सुख इतने आकर्षक नहीं और न दुःख इतने चिन्ताजनक। चार्ल्स रीडके शब्दोंमें—'प्रसन्नता उतनी दीप्त नहीं होती, जितनी हम आशा करते हैं और न दुःख उतने गहन होते हैं, जैसी हम कल्पना करते हैं।' हमने सुख और दुःखके प्रति अपनी धारणाएँ बना ली हैं—दुःखको हौवा समझकर डरते हैं, फलतः जीवनमें संतोष नहीं है। हमारी स्थिति नदीके दो किनारोंकी तरह है—एक किनारेपर अवस्थित हम समझते हैं, सारा सुख उस पार है, जबकि दूसरे किनारेपर भी आहें भरकर हम कह उठते हैं—सृष्टिका सब कुछ तो उधर ही है। यही असंतोष दुःखका कारण है—काश! हम अपनी स्थितिसे संतुष्ट हो पाते! धम्मपदमें ठीक ही कहा गया है कि हर्षके साथ शोक और भय इस प्रकार लगे हुए हैं, जिस प्रकार प्रकाशके संग छाया। संसारी सुखके पीछे कई झंझट हैं, उनके नष्ट होनेका भय भी रहता है, अतः सच्चा सुखी वही है जिसकी दृष्टिमें दोनों समान हैं। वस्तुतः यही जीवन-की आदर्श स्थिति है। व्यक्ति समदर्शी रहे—न सुख पाकर फूल जाय और न दुःख पाकर व्यग्र हो—तभी जीवनका आनन्द, सच्चा सुख और शान्ति उपलब्ध होगी।

'यो मां पश्यति सर्वत्र'

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ परमात्माको ही व्यापक देखता है—और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ परमात्माके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये न तो मैं अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिये अदृश्य होता है।'

तात्पर्य यह कि संसारमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, वह सब तत्त्वतः परमात्मा ही है। गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो वास्तवमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण हैं; क्योंकि जो प्रतिक्षण बदल रहा है, मिट रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता कैसे हो सकती है। परमात्मा बदलता, मिटता नहीं, सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः सब जगह केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है। परमात्माकी निरन्तर अविचल स्थितिके कारण ही संसार 'नहीं' होते हुए भी 'है' की भाँति प्रतीत हो रहा है। वास्तवमें स्थिति अर्थात् 'है' के रूपमें परमात्मा ही विद्यमान है। इस प्रकार जो पुरुष बदलते हुए संसारमें न बदलनेवाले परमात्माको देखता है*, उसके लिये परमात्मा अदृश्य कैसे हो सकते हैं ? इसके विपरीत जो सब जगह विद्यमान परमात्माको न देखकर (निरन्तर अदर्शनमें जाते हुए) संसारको ही देखता है, उसके लिये परमात्मा ही अदृश्य हैं। संसार क्षण-क्षण (प्रतिक्षण) अदर्शित हो रहा है, अर्थात् आँखोंसे ओझल हो रहा है। ऐसे संसारको जो देखता है, उसे परमात्मा दिखायी नहीं देते।

भगवान् कहते हैं कि जो सबको मुझमें देखता है, वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टि मेरी तरफ रहती है और मेरी दृष्टि उसकी तरफ रहती है। भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥
(गीता ४ । ११)

'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यदि साधक एक बातकी ओर ध्यान दे तो उसे विशेष लाभ हो सकता है। सम्मान्य व्यक्ति अपनेको परमात्मासे अलग मानकर उन्हें प्राप्त करना चाहता है, पर बात ऐसी नहीं है। हम सब परमात्मामें रहते हैं और परमात्मा हममें रहते हैं। संसारकी केवल भावना, कल्पना की गयी है; क्योंकि जो प्रतिक्षण मिट रहा है, वह है ही कहाँ ?

शरीर और संसार एक ही जातिके हैं। स्थूल शरीरकी स्थूल जगत्‌के साथ एकता है, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म जगत्‌के साथ एकता है और कारण शरीरकी कारण जगत्‌के साथ एकता है। यह सब-का-सब प्रकृतिका कार्य है। प्रकृति और उसका कार्य (संसार) दोनों ही परिवर्तनशील हैं। इसके विपरीत आत्मा और परमात्मा एक स्वरूपके और अपरिवर्तनशील हैं।†

* श्रीभगवान्‌ने कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता १३ । २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

† जीव अनादिकालसे ही परमात्माका अंश है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५ । ७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
(गीता ८ । १९)

'वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर लीन होता है।'

तात्पर्य यह है कि प्रकृतिका कार्य शरीर तो उत्पन्न हो-होकर नष्ट होनेवाला है, परंतु उसमें रहनेवाला आत्मा वही होता है जो पहले था। इसी प्रकार परमात्मा भी वे ही हैं, जो परमात्मा तथा जीवसमुदाय सत्युग आदि युगोंमें थे, वही अब भी हैं और आगे भी अनन्त युगोंतक वे ही रहेंगे। हम चाहे मुक्त हो जायँ या बँधे रहें, सदा परमात्मामें ही रहेंगे। आत्मा और परमात्मा तो रहनेवाले हैं तथा शरीर और संसार नहीं रहनेवाले हैं। व्यापक परमात्मा शरीर-संसारमें रह ही कैसे सकते हैं ? इसी प्रकार हममें शरीर और संसार भी नहीं रह सकते हैं। अतएव सच्ची बात यही है कि हम परमात्मामें रहते हैं, संसारमें नहीं एवं परमात्मा हममें रहते हैं, संसार नहीं। यदि हम इस बातको भूल जायँ तो भी बात तो यही सच्ची होगी। जो भूल होती है, वह मिटनेवाली होती है, परंतु वास्तविकता (सच्ची बात) भूल जानेपर भी नहीं मिटती और सदा ज्यों-की-त्यों रहती है।

जब हम साधन करते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, अध्ययन करते हैं, ध्यान करते हैं और हमारे चित्तकी वृत्ति ठीक लगती है, तब तो हम ऐसा समझते हैं कि हम परमात्मामें हैं और परमात्माका चिन्तन करते हैं, परंतु अन्य समयमें हम इस वास्तविकताको भूल जाते हैं और संसारका चिन्तन होने लगता है। यह साधकोंकी एक व्यापक शिकायत है। इसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें।

यह भूल मन-बुद्धिमें होती है, और मन-बुद्धि दोनों ही प्रकृतिके कार्य हैं, अतः वे स्वयं ही भूल हैं। अतएव यदि इन मन-बुद्धियोंसे हम भगवान्को भूल जायँ तो क्या आश्चर्य है ? हम परमात्मामें हैं और परमात्मा हममें हैं— यह वास्तविकता है, अतएव चाहे मन-बुद्धि इसे भूल जायँ तो भी वास्तविकता ज्यों-की-त्यों ही रहेगी। जब हम इसे भूल जाते हैं तब ऐसा समझने लगते हैं कि हम संसारमें स्थित हैं। इस प्रकार हम उन परमात्माको भी मन-बुद्धिका विषय बना लेते हैं, जो मन-बुद्धिसे सर्वथा परे हैं **यो बुद्धेः परतस्तु सः** (गीता ३ । ४२)। वास्तवमें भूल हममें कभी नहीं होती।

जो एक बार भी 'स्वयं'से (स्वानुभूतिसे) भलीभाँति जान लेता है कि सब जगह परमात्मा ही परिपूर्ण हैं, उसकी स्थिति उसी समय परमात्मामें हो जाती है; क्योंकि वस्तुतः उसकी स्थिति पहलेसे ही परमात्मामें थी, परंतु उसने इसे स्वयंसे नहीं जाना था। इस वास्तविकताको यदि साधक एक बार भी स्वयंसे जान ले तो फिर चाहे मन-बुद्धिसे उसे भूल भी जाय अथवा अन्य कुछ भी हो जाय, तो भी उसकी स्थिति परमात्मा-में ही रहेगी। जो बात उसे पहले ज्ञात नहीं थी, वह ज्ञात हो जानेपर न तो उससे परमात्मा कभी अदृश्य होंगे और न वह ही परमात्मासे कभी अदृश्य होगा।

जानना तीन प्रकारका होता है—(१) इन्द्रियोंसे जानना ,(२) बुद्धिसे जानना और (३) स्वयंसे जानना। इनमें इन्द्रियों और बुद्धिसे जानना वास्तविक नहीं है, स्वयंसे जानना ही वास्तविक है। इन्द्रियों और बुद्धिसे जाननेमें त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय) रहती है, परंतु स्वयंसे जाननेमें त्रिपुटी नहीं होती। स्वयंसे जानना क्या है ? 'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ'के रूपमें सबको अपनी सत्ताका बोध स्वयंसे ही होता है, किसी दूसरे (मन-बुद्धि-इन्द्रियों) की सहायतासे नहीं। इन्द्रियों तथा बुद्धिसे जानी हुई

बातमें ही भूल होती है, परंतु स्वयंसे जानी हुई बातमें कभी भूल नहीं होती, वह सदा ज्यों-की-त्यों रहती है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धिसे परे अपनी वास्तविक सत्ता (सत्ता-आत्मा) है, उसे परमात्माकी सत्तामें विलीन कर देना ही सर्वत्र परमात्माको देखना है।

साधकोंकी जो यह शिकायत रहती है कि हम परमात्माको भूल जाते हैं, उसके पीछे उनकी बड़ी भारी गल्ती यह है कि वे शरीर, संसारकी सत्ताको मान लेते हैं और परमात्माकी सत्ताकी उपेक्षा कर देते हैं अर्थात् उससे विमुख हो जाते हैं। परमात्माकी ओर हमारी (स्वयंकी) सत्ता कभी लुप्त होनेवाली नहीं है—इस तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता। ध्यान जाते ही वास्तविकता सामने आ जाती है।

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

वास्तविक (सच्ची) बात तो सदा ज्यों-की-त्यों रहती है अर्थात् उसमें कभी कोई अन्तर नहीं आता।

बारंबार होनेवाली (परमात्मविषयक) भूल बहुत शीघ्र मिट जाती है; क्योंकि नकली वस्तु कभी टिकती नहीं। परमात्मा भी सच्चे हैं और हम भी स्वरूपसे सच्चे हैं। अतः जब हमने सर्वत्र परमात्माको देखा और परमात्माने हमें देखा, तो हमारा परमात्माके साथ वास्तविक मिलन हो गया जो कभी मिटता नहीं। अतएव **'यो मां पश्यति सर्वत्र'**—इस बातका आदर करें, इसे महत्त्व दें। इस बातपर दृष्टि न रहनेपर संसार चाहे कितना ही क्यों न याद आ जाय, तो भी संसारको कभी महत्त्व न दें। जो क्षणभङ्गुर है, उसे क्या महत्त्व दिया जाय?

स्वयं परमात्माके साक्षात् अंश होनेपर भी जब हम संसारको आदर, महत्त्व देते हैं, तब नहीं होते हुए भी (आदर देनेके कारण) संसार 'है' की भाँति (सत्य) दीखने लगता है। इससे भूल दृढ़ हो जाती है और वास्तविक (सच्ची) बात छिप जाती है। अब इस भूलको मिटानेके लिये कोई अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल सच्ची बातको भलीभाँति जान लें—इतना ही करना है। जब एक बार बोध हो जाय कि यह बात सच्ची है, तब उसपर दृढ़तापूर्वक डटे रहें, चाहे वह समझमें आये या न आये, दिखायी दे या न दे, उसपर ध्यान जाय या न जाय। हम संसारमें हैं, संसार हममें है—ऐसा चाहे कितना ही दिखायी दे या ध्यानमें आये, पर वह है नहीं। संसार प्रतिक्षण बदल रहा है, नष्ट हो रहा है—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है, फिर संसारको सच्चा क्यों माना जाय?

संसारको देखनेके लिये हमारे पास 'बुद्धि' है। बुद्धिकी दृष्टिको हम सच्चा मान लेते हैं, इसीलिये संसार सच्चा दिखायी देता है। वास्तवमें बुद्धि और संसार एक ही हैं और आत्मा तथा परमात्मा बुद्धिसे परे हैं। इस प्रकार यदि बुद्धिसे परे परमात्माको देख लें अथवा जान लें तो संसारकी सत्ता स्वतः लुप्त हो जायगी।

सबमें परमात्माको देखें तो भी 'सब' नहीं रहता और परमात्मामें सबको देखें तो भी 'सब' नहीं रहता, केवल परमात्मा ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें केवल रहनेवाला (परमात्मा) रहता है, नहीं रहनेवाला (शरीर-संसार) नहीं रहता। यही वास्तविक (सच्ची बात) है। अतः इसे वास्तविकतासे (स्वयंसे) भलीभाँति जान लेना चाहिये।

चित्तकी पाँच भूमिकाएँ

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

योगियोंकी मान्यताके अनुसार चित्तकी पाँच भूमिकाएँ होती हैं—१—क्षिप्त, २—मूढ़, ३—विक्षिप्त, ४—एकाग्र और ५—निरुद्ध। कुछ लोग दो भूमिकाएँ ही मानते हैं—१—व्युत्थित और २—निरुद्ध। कोई-कोई मानते हैं कि व्युत्थित चित्तमें पहली तीन भूमिकाएँ ही रहती हैं; चौथी भूमिका निरुद्धमें सम्मिलित हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि एकाग्र भूमिका भी व्युत्थानका ही अङ्ग है। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तवृत्तियोंके निरोधका ही नाम 'योग' है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** (समाधिपाद २)

चित्तवृत्तियोंका* पूर्ण निरोध हुआ कि योग सिद्ध हुआ, जहाँ सर्वनिरोध हुआ कि निर्बीज समाधि लगी—**सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।** (समाधिपाद ५१)

विभिन्न योगाचार्योंके मतानुसार भूमिकाओंके क्रममें भी अन्तर है। किसीने पहली भूमिका क्षिप्त मानी है, किसीने दूसरी। किसीने मूढ़ भूमिकाको पहला स्थान दिया है, क्षिप्त भूमिकाको दूसरा। पर चाहे पहला दर्जा मानें चाहे दूसरा—बात कुछ एक-सी ही है। क्षिप्तका अर्थ होता है—चञ्चल; बंदरकी तरह चञ्चल। अभी एक डालपर पलभरमें दूसरीपर, दो पलके बाद तीसरीपर चलायमान रहना।

सांख्यके अनुसार गुण तीन माने गये हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें कभी कोई बाजी मार ले जाता है, कभी कोई। कभी रजोगुण प्रधान हो जाता है और सत्त्व तथा तमको दबा देता है। कभी तमोगुण हावी हो बैठता है और रज तथा सत्त्वको नीचे दुबक जाना पड़ता है। ऐसा कम ही हो पाता है—जब सत्त्वगुण प्रधान और रज तथा तम उससे दबे पड़े हों। क्षिप्त भूमिकामें रजोगुण सर्वोपरि रहता है। इस भूमिकामें चित्त जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलानेको बेचैन रहता है। मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती। इसके साथ-साथ रजोगुण तत्काल फल चाहता है। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। साधकको निद्रा, तन्द्रा, मोह, आलस्य घेरे रहते हैं। आजकी तो बात कहना ही क्या ? सात बज रहे हैं। जबतक श्रीमतीजी बिस्तरपर ही हमें गरमागरम चाय—'बेड टी' न लाकर दें, तब-तक हम नीचे कदम उतारनेकी बात सोच भी कैसे सकते हैं ? फिर—

विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।

—कहना तो और भी दूरकी बात हो गयी है।

कहते रहें साधुसंत—'ऐसी मूढ़ता या मनकी !' उन्हें हमारे बिस्तरकी गरमाहटका, बिजलीके पंखेकी हवाका भला क्या पता !

तीसरी भूमिका सत्त्वप्रधान भूमिका है। इसका नाम है—विक्षिप्त भूमिका। 'विक्षिप्त' शब्दसे चौंकनेकी जरूरत नहीं। हिंदी भाषामें विक्षिप्त कहते हैं पागलको। विक्षिप्तालय माने पागलखाना। पर योगकी भाषामें विक्षिप्तका अर्थ है—विशिष्ट क्षिप्त। इसमें मनुष्य घड़ीके पेंडुलमकी तरह इधर-से-उधर ढुलकता रहता है। कभी पूरब जाता है, कभी पश्चिम। कभी उत्तर तो कभी दक्षिण। कभी चित्त स्थिर हो जाता है, कभी अस्थिर। कभी धर्म और पुण्यकी, दान और दयाकी बात करता है तो कभी ठीक उल्टी बातें करने लगता है।

यह होती है, जिज्ञासुजनोंके चित्तकी भूमिका कभी-कभीकी उनकी छटपटाहट इस पदमें मूर्त है—

* चित्तकी वृत्तियोंके भेदोपभेद—प्रमाण, निद्रा, विपर्ययादि हैं। उनकी जानकारीके लिये योगसूत्र ४, ५ देखें।

द्वै मैं एकौ तो न भई।
ना हरि भजे न गृह सुख पायो, वृथइ बिहाय गई।
ठानी हुती और कछु मनमें, औरै आनि भई॥

इसके बाद विक्षिप्त भूमिका आती है। यह उतने अंशमें योगके अनुकूल है, जितनेमें चित्त स्थिर और शान्त रहता है, जब उसपर सत्त्वगुणका प्राधान्य रहता है। ज्ञान, धर्म, क्षमा, वैराग्य, श्रद्धा, धैर्य, उत्साह, दान, दया आदि सद्गुण तब हावी रहते हैं, जब मनुष्य अनासक्तिपूर्वक निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होता है।

पर दिल्ली अब भी दूर है!

योगके विशेष अनुकूल भूमिका—एकाग्र भूमिका ही है। भले ही एक वृत्ति आये, फिर दूसरी आये—पर क्रम एक ही चालू रहे। ऐसा नहीं कि अभी सोच रहे हैं कि कलकत्तावाली दूकानमें इस साल दस हजारका घाटा हो गया और दूसरे ही क्षण सोच रहे हैं कि आज नागपञ्चमीपर सेंवई बनी कि नहीं! वृत्तियोंका प्रवाह जब एक ही दिशामें तैलधारावत् चलता रहे तो उसे माना जाता है—एकाग्र भूमिका। कभी दिल्ली तो कभी लन्दन, कभी न्यूयार्क तो कभी वाशिंगटन—ऐसा नहीं। चित्तवृत्तियोंपर पूरा नियन्त्रण होना चाहिये।

भारतीके अनुसार 'पातञ्जलयोगदर्शन'में 'जब कि दिन-रातमें अधिकांश समय चित्त एकाग्र रहता है, अन्य भाव नहीं आते, यहाँतक कि स्वप्नावस्थामें भी एकाग्र स्वप्न होता है तो ऐसे चित्तको 'एकाग्र भूमिका' कहते हैं।'

सन् १९३३ में जेलसे छूटा तो लेखक जा पहुँचा दिल्लीके श्रीगाँधी-आश्रममें। वहाँ इसे हिसाब-किताबमें जोत दिया गया। एक दिन यह सपनेमें देखता है कि वहाँ भी यह रोकड़-बही लिये बैठा है और 'जमा' 'नाम'का चक्कर चालू है। ऐसी होती है एकाग्र भूमिका, दिन वही, रात वही, सुबह वही शाम वही। और निरुद्ध भूमिका? निरुद्ध भूमिकामें जब सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं, सारी स्फुरणाएँ समाप्त हो जाती हैं तब साधक योगकी चरम सिद्धिपर जा पहुँचता है और सारी वृत्तियोंके निरोधसे निर्बीज समाधि लग जाती है।

निरुद्ध भूमिका ही एकमात्र प्राप्तव्य भूमिका है। पर सवाल है कि इसे पाये कैसे? दर्जा पाँचमें कैसे पहुँचें? इसके कितने ही उपाय हैं। लगन हो, दृढ़ता हो, उत्साह हो तो प्राप्तव्यपर पहुँचना असम्भव नहीं है।

सारांश यह कि सभी योग वेदान्तादि शास्त्रोंके अनुसार निरुद्ध भूमिकामें चित्तकी सारी वृत्तियोंका निरोध, सारे संकल्प-विकल्पों एवं बाह्य शारीरिक हलचलोंका स्फुरण बंद हो जाता है। यही है सर्वश्रेष्ठ भूमिका, साधकका एकमात्र प्राप्तव्य।

योगका प्रथम द्वार

योगका पुनीत मन्दिर चित्तवृत्तियोंकी निरोध-नींवपर निर्मित होता है। किंतु चित्तवृत्तियोंपर निरोधके लिये यौगिक प्रक्रियामें प्रवेश-हेतु प्रथम द्वारपर वाङ्निरोध (वाणीपर नियन्त्रण), अपरिग्रह (दानका आदान—ग्रहण न करना), किसी व्यक्तिसे कुछ भी आशा न रखना—यही क्यों? किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छाका ही सर्वथा त्याग और एकान्त-सेवन—ये हैं अनुष्ठेय साधन। इनको साधनाके बिना योग-मन्दिरमें प्रवेश ही नहीं हो पाता है। इसीलिये वृद्धोंने कहा है कि—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तसेवनम्॥

भगवत्कृपाके बिना मोहसे छुटकारा नहीं मिल सकता

(लेखक—स्वामी श्रीरामकुमारदासजी खाकी)

मनुष्य-जीवन भगवान्‌की देन है—ऐसी शास्त्रोंकी मान्यता है और संतोंका कहना है। मनुष्य-जीवन भगवत्कृपासे ही मिलता है। और, जीव है ईश्वरका ही अंश। अतः जीवनको सफल करना तथा ईश्वर जीवको समझना इस जीवनका प्रमुख लक्ष्य है।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥

जीव ईश्वरका अंश और सुखकी राशि है, अतएव वह अविनाशी है। चैतन्य और विमल है, तो भी देखनेसे ऐसा क्यों लगता है कि जीव मनुष्य-शरीरमें कितना दुखी है, कितना हैरान और परेशान है। इन सबका कारण है 'मोह'। जैसे बरसातके दिनोंमें जब पानी बादलसे पृथक् होता है तब वह विशुद्ध होता है, निर्मल होता है; परंतु पृथ्वीपर पड़ते ही पानीकी निर्मलता नष्ट हो जाती है, वह गंदा बन जाता है, अग्राह्य हो जाता है; क्योंकि पृथ्वीमें पड़े हुए गंदे पदार्थका संग हो जाता है। इसी प्रकार जीव संसारमें आते ही माया-मोहके संगसे अपना निर्मल, चैतन्य और अविनाशी रूप भूलकर संसारी रूप धारण कर लेता है—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी ॥

फिर तो मोहकी ऐसी गाँठ बँध जाती है कि जीवके दिव्य-स्वरूपको बदलकर संसारी रूपमें वह जकड़ देती है; यथा—

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटति कठिनई ॥

जीव यह जानता है कि यह गाँठ मिथ्या है, यही मेरी परेशानीका कारण है, इसीने मुझे निज स्वरूपको भुलवाया है, तो भी वह उससे छूट नहीं पाता; किंतु अधिक बँधता जाता है—

तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥

'वेद-शास्त्र, संत, सद्गुरु अनेक उपाय बतलाते हैं जिनसे जीवको मुक्ति मिले और वह भगवद्भक्तिकी ओर अग्रसर होकर अपने रूपको पहचाने—'मैं ईश्वरका अंश हूँ।' परंतु वह मोहकी गाँठ और उलझती ही जाती है; क्योंकि मोह उसे जकड़े रहता है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥

मोहग्रस्त मनुष्य मानसिक रूपमें अनेक रोगोंसे ग्रस्त होता है। वह धर्म और अधर्म क्या है, इन दोनोंको जानता हुआ भी, अधर्मका त्याग और इसलिये धर्मका पालन नहीं कर पाता। यही है—मोहकी बलिहारी। यथा—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥

इसने किसे अंधा नहीं किया है, किसे नचाया नहीं है?

नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी ॥

ऐसे आत्मज्ञानियोंको भी मोहने नचाया है तो साधारण मनुष्यकी क्या बात है। विद्वान्‌को विद्याका ही मोह नचाता है। होशियार मनुष्य अपनी चतुराईसे सबको ठगनेमें नाच रहा है। बलवान् बलके मोहमें नाचता है। धनवान् धनके मोहमें ही नाचता है। सत्ताधारी सत्ताके मोहमें ही फँसा है। लच्छेदार भाषण करनेवाला भोली प्रजाको फँसाकर पुजानेके मोहमें ही नाच रहा है। इस प्रकार—

'सकल जीव जग दीन दुखारी'

जीवमात्र मोहके नचानेसे नाच रहा है और अपने आपको भुलानेसे दुःखी है। क्या इसका भी कोई उपाय है? मानसकार कहते हैं कि 'हाँ', तो वह क्या है?—भगवत्कृपा।

अरण्यकाण्डमें जीवाचार्य भगवान् शेषपर भगवान्की कृपा होती है। श्रीलखनलालजी मोहसे परेशान होकर भगवान्के श्रीपादाम्बुजोंमें अपने उसी मनको अर्पण कर देते हैं और इतना कह देते हैं कि नाथ! ऐसी कृपा करो कि 'सोक मोह भ्रम जाय।'

भगवन्! जीवमात्रको यह रोग सता रहा है। आज तो मैंने श्रीचरणोंका आश्रय ले लिया है और पूछता हूँ कि—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरन रज सेवा॥

शरणागति स्वीकार करते ही भगवान् कृपा करते हैं—और प्रभुके वचनोंका श्रवण करते ही श्रीलखनलालजी सुखी हो जाते हैं तथा प्रभुके चरणोंपर कृतज्ञतासे शिर झुका देते हैं—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

उनका मन भक्तियोगमें सुख मान लेता है और मोह नष्ट हो जाता है। अतएव भगवान्की कृपा मोहकी निवृत्ति करती है। अर्जुनने भी कहा था कि

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

—इतना कहते ही जीव मोहसे निवृत्ति प्राप्त कर अपने सहज स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

अतएव मोहसे निवृत्ति प्राप्त करनेका दिव्य उपाय और साधन एकमात्र भक्ति ही है। श्रीभरतलाल, विभीषण, हनुमान् और शबरी आदिपर भगवान्की सम्पूर्ण कृपा थी। भरतजी विश्वासपूर्वक यह कह देते हैं कि—

प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं। आन उपाय मोर भल नाहीं॥
हित हमार सिय पति सेवकाई। ... ... ॥

और,

देखे बिनु रघुनाथ पद जिय की जरनि न जाइ॥

ऐसी नैतिकतापूर्ण घोषणा भगवत्कृपा-पात्र ही कर सकता है। जिनपर भगवान्की अहैतुकी कृपा होती है वे ही मोहका त्यागकर प्रेमकी मूर्ति बनते हैं और जब प्रेम-देव हृदयमें आ जाते हैं तब मोहका नाश हो ही जाता है। कैकेयीके मोहद्वारा लगाये गये बाजारको भरतजी भक्ति और प्रेमका नगर बना देते हैं। यह है भगवत्कृपा-की शक्ति। अतएव जीवका परमधर्म है भगवत्कृपाकी प्राप्तिकी साधना, निश्छल भक्ति एवं प्रभुपरायणता।

मोह न छूटै माया

अस कछु समुझि परत रघुराया!
बिनु तव कृपा दयालु! दास-हित! मोह न छूटै माया॥ १॥
वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई॥ २॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति असन-हीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै॥ ३॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै॥ ४॥
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मन माहीं।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥ ५॥

—गो॰ तुलसीदासजी

भक्त रामदास

भक्त रामदास द्वारकासे सात कोसकी दूरीपर डाकोर नामक गाँवमें रहते थे। 'रणछोड़' भगवान्‌के मन्दिरमें प्रति एकादशीको जागरण, कीर्तन आदि उत्सवका आयोजन होता था; उसमें वे नियमपूर्वक सम्मिलित हुआ करते थे और भगवान्‌के दर्शनसे अपने तन, मन और बुद्धिको पवित्र करते थे। भगवान् 'रणछोड़जी'ने एक बार उनके सामने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा—'तुम वृद्ध हो चले हो, तुम्हें सात कोस आने-जानेमें जो कष्ट होता है, वह मेरे लिये नितान्त असह्य है।' भक्त रामदास तो भगवान्‌की रूप-माधुरी छकनेमें इतने तल्लीन हो गये थे कि उन्हें बाह्यज्ञान कुछ रहा ही नहीं, आने-जानेके प्रश्नने उनके मस्तिष्कको कुछ चिन्तित भी नहीं किया। भगवान्‌ने कृपापूर्वक उन्हें दर्शन दिया, इस बातको सोचकर वे प्रेममें विह्वल हो रहे थे। भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही वियोगमें उनके प्राण छटपटाने लगे, अङ्ग-अङ्ग सिहरने लगा। अब तो उनका निश्चय और भी दृढ़ हो गया, वे समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर दूने उत्साहसे जागरणका आनन्द लेने लग गये।

भगवान्‌से भक्त रामदासका एकादशी-जागरणमें आना अब और न सहा गया, भक्तको सुख और आनन्द देनेके लिये उन्होंने रामदाससे डाकोर चलनेका निश्चय प्रकट किया। भगवान् तो सच्ची निष्ठा और प्रेमके भूखे होते हैं। उन्होंने रामदासको गाड़ी लानेकी सम्मति दी और कहा—मेरे विग्रहको अँकवारमें भर उसमें लिटा देना और यथाशीघ्र ही डाकोर पहुँचनेका प्रयत्न करना। दूसरी एकादशीके जागरण-अवसरपर रामदास द्वारकामें गाड़ी ले गये, उनकी वृद्धावस्थासे किसीने उनपर संदेह नहीं किया। द्वादशीकी रात आधी बीत चुकी थी। द्वारकावासी और मन्दिरके पुजारी तथा अन्य सेवक आदि नींदकी गहरी और मीठी लहरोंमें बह रहे थे। सारा-का-सारा वातावरण नीरव और शान्त था। रामदास अपने सौभाग्यपर फूले नहीं समाते थे, भगवान्‌के आतिथ्यके आनन्दकी अनुभूतिकर वे प्रतिक्षण कुछ और-से-और होते जा रहे थे। मन्दिरका पट अचानक खुल गया। वे मन्दिरमें पहुँच गये। थोड़े ही परिश्रमसे भगवान् उनकी गोदमें आ गये, भगवान्‌ने प्रसन्नतापूर्वक अपने चिन्मय मादक स्पर्शसे भक्तकी जन्म-जन्मकी तपस्या सफल कर दी। गाड़ी द्वारकासे बहुत दूर निकल गयी। रामदास झूम-झूमकर कीर्तन करते थे और भगवान् भक्तके संरक्षणमें सात कोसकी यात्रा पूरी कर रहे थे।

सबेरा होते ही लोगोंने रामदासका पीछा किया। भगवान् भास्करकी सुनहली बालकिरणें पूर्व दिशाके प्राङ्गणमें विहार करनेवाली ही थीं कि रामदासने देखा कि कुछ लोग उनका पीछा कर रहे हैं। उनके मस्तकपर पसीनेके कण बिखर गये, वे किसी अनहोनी और भीषण घटनासे रह-रहकर आशङ्कित हो उठते थे। कभी प्रभुका श्रीविग्रह प्रेमभरी दृष्टिसे देख लेते तो कभी गाड़ीको तेजीसे आगे बढ़ा देते। उन्हें पूरा-पूरा विश्वास था कि प्रभु जो कुछ भी करेंगे, उसीमें मेरा परम कल्याण होगा। पीछा करनेवाले थोड़ी ही दूर रह गये थे, पर भक्तने भगवान्‌को जगाना उचित नहीं समझा, उन्हें तो विश्वास था कि भगवान् गाड़ीपर लेटते ही सो गये हैं। उन्होंने सोचा कि पीछा करनेवाले मुझसे भगवान्‌को छीन लेंगे और नींदका सुख लेते द्वारकामन्दिरमें प्रवेश करेंगे, इससे अधिक तो कुछ होगा नहीं। परंतु भगवान्‌की लीला-शक्ति तो जाग ही रही थी। भक्त-भयहारी रासविहारीने कहा—'तुम मुझे सामनेकी बावलीमें छिपा दो और जब पीछा करनेवाले चले जायँ,

तब गाड़ीमें रखकर डाकोर ले चलना।' रामदासने उनकी आज्ञाका पालन किया। पीछा करनेवाले पुजारी आदि आ पहुँचे, बिना कुछ पूँछ-ताछ किये ही उन्होंने रामदासको मारना आरम्भ किया। भगवान्‌की लीला-शक्तिने भक्त रामदासकी दृढ़ निष्ठा और धैर्य-परीक्षाकी महिमा प्रकट करनेके लिये दुष्टोंको अपनी मनमानी करने दी, पर उन्हें दण्डके ही माध्यमसे भक्तके शरीरका स्पर्श मिल चुका था, अतः उनका विवेक जाग उठा। गाड़ीमें भगवान्‌का श्रीविग्रह न पाकर उनके पश्चात्तापका पारावार उमड़ आया, उन्होंने महापापसे भी भीषण भक्तापराध कर डाला था। तभी उन्होंने देखा कि बावलीका पानी किसीके खूनसे लाल हो गया है। सत्संगका प्रभाव तो मनपर था ही, भगवान्‌की लीला-शक्तिने अपना काम किया, वे प्रभुका विग्रह बावलीसे बाहर निकालकर अपने कियेपर पछताने लगे।

भगवान्‌ने दर्शन दिया, भक्त रामदास प्रभुके घायल शरीरको देखकर काँप उठे। मेरे कारण उन्हें इतना कष्ट सहना पड़ा। उनका हृदय हाहाकार कर उठा। भगवान्‌ने प्रत्यक्ष होकर कहा—'मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञासे ले जा रहा है। मैं तुम्हारे सम्पर्कमें अब नहीं रहना चाहता। मेरी दूसरी प्रतिमा, जो अमुक स्थानपर है, मन्दिरमें स्थापित कर भक्ति और प्रेमसे अपना अन्तः-करण पवित्र करो, इस महान् अपराधका यही प्रायश्चित्त है।' भगवान्‌ने रामदासको आज्ञा दी—'मेरे तौलके बराबर उन्हें सोना दे दो।' भक्त अपनी दरिद्रता और असमर्थतापर काँप उठा। स्वर्णके नामपर उनकी स्त्रीके कानकी बाली पलड़ेमें रक्खी गयी, पलड़ा भारी हो गया, उसकी तौलमें प्रतिमा हल्की हो गयी! पुजारी तथा अभक्त दुष्ट अपना-सा मुँह लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। भगवान्‌ने भक्तकी इज्जत रख ली। भगवान् 'रणछोड़'जी उसी दिनसे 'आयुध-छत'की उपाधिसे विभूषित हुए। इसकी स्मृतिमें डाकोरमें अभीतक उनके घावपर पट्टी बाँधी जाती है। भक्तवर रामदासकी भक्तिकी महिमाका बखान तो भगवान् 'रणछोड़'की लीला-शक्ति ही कर सकती है।

भक्तकी याचना

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

प्रभो! हमारी वाणी आपके मङ्गलमय गुणोंका वर्णन करती रहे। हमारे कान आपकी रसमयी कथामें लगे रहें। हमारे हाथ आपकी सेवामें और मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें रम जायँ। यह सम्पूर्ण जगत् आपका निवास-स्थान है। इसलिये हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं। अतः हमारी आँखें उनके दर्शन करती रहें।

बौधायनसूत्रमें अतिथि-सत्कार

(लेखक—श्रीसुब्राय गणेश भट्ट, गोकर्ण)

कल्प-सूत्रोंमें बौधायनसूत्र आदिम माना गया है। इस सूत्र (बौ० गृह्यसूत्र २—९, और बौ० परिभाषासूत्र २—४, ६)में विस्तृतरूपसे अतिथि-अभ्यागतोंके सत्कारका वर्णन किया गया है, जो अत्यन्त उद्बोधक है। सदाचारोंमें अतिथि-सत्कार एक महत्त्वपूर्ण आचार है।

प्रत्येक मास या सप्ताहकी किसी निर्दिष्ट तिथि या दिनमें, अपने कामके लिये, उद्योग-व्यवहारके लिये, नियमितरूपसे आ जानेवालेको अतिथि नहीं कहते। भोजनके समयपर कोई थका हुआ प्रवासी अपनी भूख-प्यास मिटानेके लिये घरमें किसी एक ही तिथिको सहसा आ पहुँचे, वही 'अतिथि' कहा जाता है। बलिवैश्वदेव-हवनके पश्चात् गायको दुहनेमें जितना समय लगता है उतने समयतक अतिथिकी प्रतीक्षा या निरीक्षण करना गृहस्थका धर्म है। **'यज्ञो वा एष पञ्चमो यदतिथिः'** 'अतिथिकी पूजा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, ब्रह्मयज्ञ—इन पञ्चमहायज्ञोंमें अन्तिम ब्रह्मयज्ञ उसका प्रत्यक्षरूप है। आचार्यने दूसरे स्थानपर अतिथिको समस्त यज्ञ-यागोंका साक्षात् स्वरूप बतलाया है। **—अतिथिः सर्वयज्ञक्रतुसम्मितः**—इतना ही नहीं, आगे चलकर आचार्य महोदयने अतिथि-अभ्यागतोंको परब्रह्मस्वरूपसे सम्बोधित किया है। इन वचनोंमें परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिये। अपनी योग्यता और अधिकारके अनुसार समन्वय कर लेना चाहिये।

गृहस्थ, वानप्रस्थ, परिवाद, अधिगतश्री* स्नातक धर्मिष्ठ, राजा, व्रतनिष्ठ, और गुरुके समान आचरणवाले—ये सब लोग 'अतिथि' हो सकते हैं। ये पधारें तो उठकर स्वागत करके आसन, पादशौच, मधुपर्क आदिसे सत्कार करना चाहिये। घरमें निहित ग्राम्य या आरण्य धान्यसे यथासाध्य इन्हें सुग्रास भोजन देना चाहिये। धान्यके अभावमें कन्द, मूल, फलोंसे सत्कार करना चाहिये। यदि यह सब भी न हो सके तो स्वागतके बाद सादर चटाई या पृथ्वीपर बिठाकर, मधुर तथा विनीत वचनोंसे अपनी असमर्थताको निवेदन करके पीनेके लिये जल देकर ही सत्कार करना चाहिये। जिसके घरमें दाल, चावल, घी, आटा इत्यादि सामग्रियोंका पर्याप्त संग्रह हो उसे सुचारुरूपेण वैभवसहित सत्कार करना उचित है। घरमें जो वस्तु उपलब्ध हो उससे सत्कार करनेमें हिचकिचाना उचित नहीं है। जिसके घरमें विनय और माधुर्यपूर्ण वाणीसे, अतिथि-अभ्यागतोंका स्वागत और यथाशक्य सत्कार होता रहता है उसके घरमें समृद्धि स्वयं आकर निवास करती है।

इसी प्रकार मध्याह्न या सायंकाल भोजनके समय आनेवालोंको अभ्यागत कहते हैं। बाल, वृद्ध, प्रवासमें पथभ्रष्ट होकर आयी हुई स्त्री, अव्यवस्थित, विकृत वेष-भूषणवाला तथा जिसके बाहरी स्वरूप, व्यवहारादिसे नैष्ठ आचारका पता नहीं चलता हो, जो अत्यन्त रहस्यपूर्ण मालूम पड़ता हो—ये सभी अभ्यागतोंकी व्याख्यामें आते हैं। इन सब लोगोंका भी सत्कार करना गृहस्थाश्रमीका कर्तव्य है। घरमें सिद्ध किये गये शाक-पाकोंमेंसे एक भागको अतिथि-अभ्यागतके सत्कारार्थ बाँटना चाहिये जिससे उन लोगोंका संतर्पण हो जाय।

मार्गके श्रम, धूप, सर्दी और बरसातके कष्टसे जो थकित और पीड़ित होकर आये हों, जो अदृष्ट पूर्व

* अधिगतश्री शब्दसे वेदज्ञ, ग्रामाध्यक्ष और राजपुत्रादि वाच्य होते हैं।

(पहले जिसका दर्शन न हुआ) हो, जो अश्रुत-पूर्व (जिसका नाम और गोत्र अभीतक नहीं सुना गया है ऐसा) और जो किसी आशासे नहीं—केवल भूखसे पीड़ित होकर केवल अन्नार्थी बनकर आया हो ऐसे सबको अतिथि मानना चाहिये।

समागत अनेक आदमियोंमें जो श्रेष्ठ है, उसको भी अतिथि समझना चाहिये। एक ही समयपर ब्राह्मण और क्षत्रिय आयें तो ब्राह्मणको अतिथि और क्षत्रियको अभ्यागत मानना चाहिये। पर एक ही समय क्षत्रिय और वैश्य आयें तो क्षत्रियको अतिथि और वैश्यको अभ्यागत समझना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र आयें तो वैश्यको अतिथि और शूद्रको अभ्यागत मानना चाहिये। एक ही वर्ण या आश्रमके कई अतिथि आयें तो विद्वत्ता, वार्धक्य, देहदौर्बल्य आदि जिसमें ज्यादा दीख पड़ते हों, उसका सत्कार विशेषरूपसे करना चाहिये।

सहाध्यायी (साथ जिसका शिक्षण, अध्ययन, हो गया है), सहप्रवासी (प्रवासमें जिसका साथ हमको प्राप्त हो चुका है) ऐसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, रथकार, स्त्रीसहित आया हुआ गृहस्थ, स्मार्ताग्नि या श्रौताग्नियोंके साथ आया हुआ अग्न्युपासक, बैलगाड़ीको लेकर आया हुआ आदमी, ये सभी अतिथि हैं। ऐसे लोगोंके आगमनपर उठकर स्वागत करके आसन प्रदान करनेके बाद पृथक्-पृथक्, पंक्तियोंमें बिठाकर उनका सत्कार करना चाहिये। उनके बैल, गाय, परिवारोंका भी यथोचित सत्कार करना चाहिये। किंतु मातुल, श्वसुर आदि स्नेह तथा सम्बन्धको बढ़ानेकी भाषा बोलनेवालोंको, बार-बार आते-जाते रहनेवालोंको तथा दूसरे मित्र या बन्धु-वर्गसे प्रेरित होकर आये हुए महानुभावोंको अभ्यागत ही समझना चाहिये। अतिथि और अभ्यागतोंके समुदायमें जो अहिंसक, अपने-अपने वर्ग और आश्रमोंके नियमोंका पालन करनेवाले हैं, उनका उठकर स्वागत करके मधुपर्कपूर्वक सत्कार करना चाहिये और आत्मीय मानकर अपने विश्वासमें लेना चाहिये।

आचार्य हमारे ऋत्विजोंके पिता, मातुल, श्वसुर, वेदविद्ब्राह्मण, राज्याभिषेकसे अभिषिक्त क्षत्रिय, धनिक वैश्य, राजपुरोहित—ये भी मधुपर्कके योग्य पात्र हैं।

पितृव्य, (पिताके भाई) उपाध्यायके लड़के, नाचिकेतादि अग्नि-विद्याके ज्ञाता, स्मार्ताग्नि, श्रौताग्नि और पञ्चाग्नियोंका उपासक, षडङ्गवेदार्थाभिज्ञ और ऋषिसदृश तपोनिष्ठ लोगोंके सत्कारमें पादसंवाहन, स्नान, शय्या, वस्त्र-भूषण, अलंकार प्रदान करना आदि यथासाध्य कार्य करनेका विधान है।

आये हुए शूद्रको अभ्यागत माना जाता है। हमारे सत्कारका प्रतिग्रह करनेका उसको अधिकार नहीं है। इसलिये उसमें जिस कामको करनेकी अर्हता विद्यमान हो उस काममें नियुक्त करके बादको भोजन आदिसे संतुष्ट करना चाहिये।

माँ, बाप, गुरु प्रभृति पूज्योंकी आज्ञासे, जो ब्रह्मचारी प्रवासमें मार्गायाससे थका हुआ अपने घरपर आये तो उसका उठकर स्वागत करनेकी आवश्यकता नहीं है। बैठकर ही स्वागत करके आसन, पाद, शौच आदि देना चाहिये। उसके पास यदि भिक्षापात्र न हो तो उसके हाथमें भिक्षापात्रको देकर उसके 'भवति भिक्षादि' अथवा 'भवान् भिक्षां ददातु' कहनेके अनन्तर उसे पर्याप्त भोजन—अन्न-शाक आदिको उस भिक्षा-पात्रमें डालना चाहिये। यह ब्रह्मचारी अतिथिका सत्कार है। इस प्रकार करनेसे उसके ब्रह्मचर्य-धर्मका भी रक्षण होता है।

वानप्रस्थी आयें तो उठकर स्वागत करके आसन, पाद-शौच आदि सत्कारके बाद उन्हें कन्द, मूल, फल शाक और आरण्य धान्यसे निर्मित भोज्योंको अर्पित करना चाहिये। यदि यति पधारें तो स्वयं उठकर

स्वागत, आसन, पादशौचके बाद उनके साथ सम्भाषण करना चाहिये। उनके नियमोंको समझकर उनका सत्कार करना चाहिये। अतिथिरूपसे आये हुए यतिदेवके स्वागतार्थ सत्कार करनेके पूर्व निमन्त्रण आदि देनेकी आवश्यकता नहीं है।

सत्कार करनेवाला धनिक हो तो वह वैभवपूर्ण उपचारोंसे सत्कार कर सकता है। अतिथिदेवके लिये भोजनके पश्चात् विश्रान्तिके हेतु शय्या-प्रकल्प, सायंकाल स्वतन्त्र प्रकाशादिकी व्यवस्था करना बतलाया गया है। यदि अतिथि व्याधिग्रस्त और आर्त हों तो उनकी आवश्यकताको जानकर औषधोपचार-सेवा आदि कार्योंमें तत्पर हो जाना चाहिये।

यदि अतिथि-अभ्यागत विना सत्कारके लौट जायँ तो सभी देवता रुष्ट हो जाते हैं। अतः पत्नी, पुत्रोंके साथ गृहस्थको अतिथि-सत्कारका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। शास्त्रोंके अनुसार विधिवत् अतिथि-सत्कार करनेवालोंको निरुद्योग, दुर्भिक्ष, अपमृत्यु, जरा और शोकोंकी पीड़ा नहीं होती है।

शिक्षा और अनुशासन

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेन्द्रप्रसादजी गर्ग, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

हमारे देशके बच्चे एवं छात्र-छात्राएँ उत्तरोत्तर उच्छृङ्खल, अनुशासनहीन, उद्दण्ड, अवज्ञाकारी, अपव्ययी एवं व्यसनी होते जा रहे हैं। देशके कर्णधार, अभिभावकगण, शिक्षालयोंके आचार्य अनुशासन लानेके लिये प्रयत्नशील हैं। अभीष्टकी सिद्धिके लिये अलग-अलग विद्वान् अलग-अलग उपाय बतलाते हैं। इस लेखमें इसपर विचार किया जाता है।

सही प्रशिक्षण एवं सद्-ज्ञानका अभाव

एक अंग्रेज कविका कथन है—

'Selfreverance, selfknowledge and self-control—'these three lead life to sovereign power.

'स्वात्माभिमान, स्वज्ञान एवं आत्म-नियन्त्रणके द्वारा मानव स्वप्रभुत्वशाली स्वाराज्यकी स्थितिको प्राप्त कर सकता है।' आजके बच्चे एवं विद्यार्थी इस सत्यको कथमपि (कत्तई) नहीं समझ रहे हैं। वे सर्वथा भूल रहे हैं कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्यका विधाता और अपनी आत्माका स्वामी है। उच्चपदकी प्राप्तिके लिये अनुशासनका पालन अपरिहार्य है। उन्हें यह भी नहीं बतलाया जाता कि माता-पिता एवं गुरुजनोंका आदर करने, उन्हें मस्तक नवाने एवं उनकी आज्ञा पालन करनेसे सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है और जीवन सफल होता है। गुरुजनोंकी सेवा एवं उनकी आज्ञाके पालनका अवसर जीवनमें बार-बार नहीं आता। भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने माता-पिताके सामने इस बातसे कि, वे परिस्थितिवश उनकी सेवा नहीं कर सके, खेद प्रकट करते हुए क्षमा-याचना की थी। हमारे बच्चोंको इस प्रकारका प्रशिक्षण एवं सद्ज्ञान मिलना चाहिये। इस प्रकार इनके संस्कार, भाव एवं आचरण शुद्ध हो सकते हैं।

स्नेहयुक्त व्यवहार

बच्चे प्रायः उपदेश बहुत कम ग्रहण कर पाते हैं। माता-पिताका क्रोध, स्वभाव आदि उन्हें दाय (पैतृक) सम्पत्तिके रूपमें मिलता है। उनके संस्कार बच्चोंके चित्तपर पड़े बिना नहीं रहते। अलबत्ता धीरे-धीरे आयुके परिपक्व होने तथा उनमें समझ आनेपर वे घटते हैं। बच्चोंके अपराध करनेपर उन्हें पीटना या ताड़ना देना कदापि उचित नहीं है। जो लोग उन्हें रोटी न देने,

घरसे बाहर निकाल देने आदिकी बातें सोचते हैं, वस्तुतः वही दण्डका विधान उन्हें कठोर दुराग्रही और अवज्ञाकारी बनाता है । शारीरिक दण्ड अभीष्टकी प्राप्ति नहीं करा सकता । दण्डका स्वरूप बदलना चाहिये । बच्चोंके अपराध करनेपर कुछ समयके लिये उनसे बोलना बंद कर देना, उनके कार्यों एवं बातोंमें रुचि न लेना, उनके समीप जानेके अवसर आनेपर भी उनके साथ सम्मिलित न होना एक बड़ी सीमातक लाभकारी होते हैं । बच्चोंको भूल-कर भी शारीरिक दण्ड न देकर उनके लिये इस प्रकारके उपाय ढूँढ़ने चाहिये, जिससे उनके मनपर प्रभाव पड़े और वे अपने स्वरूपको पहचानकर सन्मार्गको अपनावें ।

माता-पिताका कर्तव्य है कि वे अपनी संतानको कोई विशेष कठिनाई न होनेपर सब प्रकारकी सुविधाएँ दें । इन सुविधाओं, उत्तम वातावरण आदिके देनेमें आर्थिक क्षति हो तो उसे भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिये ।

यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि हम भी कभी बच्चे थे । बच्चे सब कार्य समझदारीसे सुव्यवस्थित करें तो बच्चे ही क्यों रहें ? उनका पालन एवं शिक्षण माता-पिताका प्रथम कर्तव्य है । ऐसा करके वे उनपर कोई उपकार नहीं करते । उद्दण्डतासे तंग आकर उन्हें घरसे बाहर निकालनेकी परम्परा भयंकर भूल है । इसी उम्रमें जब हम थे और हमारे पिताने यदि हमें घरसे बाहर निकाल दिया होता तो उसका परिणाम कितना कटु बनता । बच्चे माता-पिताके आश्रित नहीं हैं, उनका पालन-पोषण माता-पिताका नैसर्गिक कर्तव्य है । उनको जितना डाँटा-फटकारा जाता है, उनके दोष उनमें उतने ही बद्धमूल होते जाते हैं । दोष माता-पितामें हैं । वे बच्चोंको प्रेमपूर्वक समझा लेनेमें समर्थ नहीं हैं । उनका उचित संचालन उन्हें नहीं आता । अपनी त्रुटि एवं न्यूनताका दण्ड वे बच्चोंको देना चाहते हैं । वे अपनी बात उन्हें आज्ञाके रूपमें डाँटकर मनवानेके इच्छुक रहते हैं और इसमें उनको सफलता नहीं मिलती । उन्हें एकमात्र स्नेहसे सुधारनेका प्रयत्न किया जाये । पर अपनेको उनके सुधारका ठेकेदार मानना भूल ही है । माता-पिताका परिश्रम निष्फल जाता है । माता-पिता उनके शुभके लिये सचेष्ट रहें यह कर्तव्यपालन है । पर स्वयं पूर्ण फल नहीं । वे मिट्टी, काष्ठ, पत्थर नहीं हैं, जिनकी माता-पिता अपने इच्छानुसार मूर्तियाँ गढ़ सकें । इस प्रकारकी फलेच्छा निराशामात्र है । बच्चे अपना प्रारब्ध एवं संस्कार लेकर आये हैं । उनके संचालक माता-पिता नहीं अपितु जगदात्मा हैं । माता-पिताका कर्तव्य उनकी एकमात्र सेवा करना है । यह सेवा भी भावी फलेच्छासे, किसी प्रकारकी आसक्तिसे न होकर कर्तव्यके रूपमें होनी चाहिये । जो माता-पिता अपनी संतानसे किसी भी प्रकार आशा करते हैं, उन्हें प्रायः दुःख, संताप एवं असुविधाका सामना करना पड़ता है ।

अहंकार

कई बार संतानें अपने माता-पिताके जीवनकाल अथवा उनकी मृत्युके पश्चात् पर्याप्त धन-सम्पत्तिकी भागी होती हैं । यह भी उन्हींका प्रारब्ध है । माता-पिताको इस बातका गर्व भी नहीं करना चाहिये कि उन्होंने संतानको पर्याप्त द्रव्य, संपत्ति, जमीन, जायदाद दी है । वस्तुतः वे पूर्वजन्मके अपनी संतानके ऋणी हैं और इस ऋणको सहर्ष चुकाना ही आगे जन्म न लेनेका कारण होता है; अन्यथा ऋणको चुकानेके लिये पुनः जन्म लेना होगा ।

व्यक्तित्वका सम्मान

प्रायः बच्चोंके व्यक्तित्वकी अवहेलना की जाती है और उनको घरों, पाठशालाओं आदिमें वह सम्मान, स्नेहयुक्त व्यवहार नहीं दिया जाता, जिसके वे अधिकारी

हैं। बच्चोंकी अवहेलना एक भारी अपराध है। उनकी सुविधाओंका ध्यान न रखकर माता-पिता एवं अभिभावकगण अपनी स्थितिमें मस्त रहते हैं। यह ठीक नहीं। बच्चोंको घुमाना, सैर कराना, धार्मिक वातावरणमें ले ज़ाना, शिष्टाचारकी बातें सिखलाना और उनमें हिल-मिलकर उनके जीवनको आनन्दमय बनाना चाहिये। माता-पिताको देखते ही बच्चे उनकी ओर दौड़कर चले आवें, अपने भावको निःसंकोच व्यक्त करें, इस प्रकारका स्वाभाविक प्रयास होना चाहिये। उन्हें डाँटना, शान्त करनेके लिये भय दिखाना और अपनी सुविधाहेतु उनके खेल-कूदमें बाधा डालना ठीक नहीं है।

प्रभुकी देन

शास्त्र कहता है कि वह घर धन्य है, जहाँ धूल-धूसरित बच्चे प्राङ्गणमें खेलते हैं। बच्चे प्रभुकी मूल्यवान् देन हैं। अंग्रेजी उपन्यास 'दि विकार आफ वेकफिल्ड'में भलीभाँति बतलाया है कि बच्चे माता-पिताकी दरिद्रतामें भी बहुमूल्य निधि होते हैं। वे आनन्दके स्रोत हैं।

क्रोध न करें

कई बार बच्चोंके वस्तुएँ गुमा देने, नष्ट कर देनेपर माता-पिता अभिभावक आपेसे बाहर होकर क्रोधका प्रदर्शन करते हैं। इस तथ्यको भुला दिया जाता है कि हानि प्रारब्धवश होती है। संसारमें सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं। क्रोधद्वारा पूर्ति नहीं हो सकती। क्रोधसे अनुशासन बिगड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि सावधानी न बरती जाये। विशेषकर बच्चोंमें चोरी, निन्दा आदिकी कुटेव तो किसी प्रकार आने ही नहीं देनी चाहिये।

संयत आहार

भोजनके सूक्ष्मांशोंसे मनका निर्माण होता है और मनकी चंचलता एवं शान्तिपर ही अनुशासन, संयम आदि आश्रित हैं। इसलिये माता-पिता एवं अभिभावकोंका परम कर्तव्य है कि वे घरमें सदा सात्त्विक आहारको प्रोत्साहन दें। तामसिक एवं राजसिक खाद्यों—जैसे दानेदार चीनी, सफेद मैदा, डालडा, बिस्कुट, नमकीन, बाजारू मिठाइयों, अधिक मिर्च-मसालों आदिसे परहेज किया जावे। मोहग्रस्त हो बच्चों एवं छात्रोंको बार-बार खिलाना उन्हें अनुशासनहीन बनानेमें सहायता देता है। आहार एक ऐसी कुंजी है जिसके नियन्त्रणसे जीवन नियन्त्रित होता है और बच्चे स्वस्थ, सुखी एवं उत्तम स्वभावके बनते चले जाते हैं।

यह अत्यन्त दुर्भाग्यका विषय है कि आधुनिक माताएँ शिशुओंको स्तनपान न कराकर प्रचलित हानिकारक 'बेबीफूड'पर रखती हैं। इस प्रकार बेबीफूडपर पनपे बच्चे आगे चलकर अनुशासनहीन बनें तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसी प्रकार बच्चोंको प्रचलित कृत्रिम हानिकारक पेयोंसे बचाना चाहिये। डॉ० विलियम लियोनार्डने अपने एक अद्वितीय ग्रन्थमें लिखा है कि दानेदार चीनीका प्रयोग करनेवाले बच्चे अक्सर शराबी बन जाते हैं। इसके स्थानपर देशी शर्कराका प्रयोग वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त घरमें रसोई बनाकर सर्वप्रथम प्रभुको निवेदित करना और फिर बच्चोंको प्रसाद खिलाना उनकी बुद्धिको परिमार्जित, परिष्कृत एवं अनुशासनप्रिय बनाता है। भगवान्‌के बिना भोग लगाये किसी वस्तुका सेवन नहीं करना चाहिये। यह मूल मन्त्र है और इसके पालनसे अभूतपूर्व लाभ होता है।

कन्याओंसे घृणा

समाजकी कुरीतियोंके कारण प्रायः कन्याओंका जन्म एक संकट समझा जाता है और माता-पिता बालिकाओं-के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। यह भी एक भूल है। वस्तुतः कन्यादान एक परम पुण्य-कर्म है और

कन्याओं-बालिकाओंपर पुत्रोंकी अपेक्षा अधिक ध्यान, समय, व्यय (खर्चा) लगाना चाहिये। कर्दम ऋषिकी नौ कन्याओंके जन्म लेनेके पश्चात् ही श्रीकपिल जैसे मुनिका प्रादुर्भाव हुआ था। तात्पर्य यह है कि कन्याएँ स्वयं एक वरदान हैं।

बम्बईसे प्रकाशित अंग्रेजी पाक्षिक 'फेमीना'के २३ मई सन् ७८के अङ्कमें विदुषी सम्पादिकाने अपने अग्र लेखमें हितोपदेशके एक श्लोक—

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रो तमो हन्ति न च तारागणा अपि॥

(प्रस्ता० १८; चाणक्य ४। ६)

—को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

'But to bring-up such a child need parents oceans of love, monumental patience, the courage to be honest and the will to always stand-by'

'बच्चेको विकसित करनेके लिये माता-पिताको प्रेम (स्नेह)का समुद्र बनना, अपरिमित धैर्य रखना, सदा सत्य व्यवहार करना और उनकी (त्रुटियों)को सदा सहना चाहिये।' तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त गुणोंके आधारपर ही बच्चों एवं छात्रोंको अनुशासनप्रिय बनाया जा सकता है।

इसी संदर्भमें यह भी उल्लेखनीय है कि बालकों एवं छात्रोंका मुख्य कर्तव्य अध्ययनद्वारा ज्ञानार्जन करना, स्वस्थ रहना और भावी उत्तरदायित्वको वहन करनेकी शक्ति सम्पादन करना है। विद्यार्थि-कालमें उन्हें राजनीति, विवाद-प्रतिरोध, समाज-सुधार, भ्रष्टाचार-उन्मूलन आदिमें अपनी शक्ति, समय एवं माता-पिताके धनका अपव्यय नहीं करना चाहिये। जो उन्हें ऐसा करनेके लिये प्रेरित करते हैं, वे बच्चोंके साथ राष्ट्रका भी कोई हित नहीं करते।

बच्चों एवं छात्रोंको प्रतिदिन धर्म, नीति-सम्बन्धी शिक्षाका उपदेश दिया जाना चाहिये। उनके अध्यापक एवं शिक्षक स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत करें और उनका जीवन एक खुली पुस्तक हो। बच्चे जैसा देखते हैं उसीका अनुकरण करने लगते हैं। अतः बच्चों-की शिक्षाके लिये उनके समक्ष सदैव आदर्श-व्यवहार ही होना चाहिये। बच्चोंकी शिक्षाका प्राथमिक आधार माता-पिता और अभिभावकोंके व्यवहार ही होते हैं। अतएव इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

संस्कार-बीज

(लेखक—पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज)

बालक बड़ोंका ही अनुकरण करता है।

माँ-बाप यदि जल्दी उठकर प्रभुस्मरण करें तो बालकके जीवनमें भी ऐसे ही संस्कार पड़ेंगे।

हमारी संतानके जीवनमें अच्छे संस्कारोंका सिंचन हो, इस दृष्टिसे भी हम सत्कर्म करें। उनके देखते हुए कभी कोई पापकर्म न करें।

यदि हम स्वयं तो घरमें बैठे हों और बाहर दरवाजेपर कोई ऐसा व्यक्ति आ जाय, जिसे हम नहीं चाहते, तो उसे बाहर निकालनेके लिये अपने बच्चेके द्वारा 'हम घरमें नहीं हैं' ऐसा संदेशा भूलकर भी न कहलायें।

झूठ बोलनेके ऐसे संस्कार बालकके जीवनको बर्बाद कर देनेवाले सिद्ध होते हैं और असत्यका बीजारोपण होनेके बाद बड़ी उम्रमें जब वह वृक्षके रूपमें फैलेगा, तब उस समय हमारे पछतावेका कोई अन्त नहीं होगा।

भारतमें गायका महत्त्व

(लेखक—श्रीरामलालजी गुप्त)

हम अपने पूर्वजोंसे यह बात सुनते चले आ रहे हैं कि 'पृथ्वी बैलके सींगके सहारे खड़ी है।' बचपनमें हम इसे केवल बच्चोंकी गप्प-सी ही समझा करते थे। पर इसके अंदर जो गूढ़ रहस्य छिपा है, उसको हम उस समय समझनेमें सर्वथा असमर्थ थे। परंतु आज इस वाक्यपर हम जितना अधिक विचार करते हैं, उतना ही अधिक इसे ठीक और रहस्यपूर्ण पाते हैं। हमारी इस पृथ्वीपर रहनेवाले सभी जीवधारियोंका जीवन पृथ्वीकी उपजपर ही निर्भर है और उपज, यदि ध्यानसे देखा जाय, तो बैलके ही अस्तित्वपर आश्रित है।

जिन गौओंके अमृतोपम दूधके आधारपर मानव-समाज जीवित रहा है, जिन बैलोंके कारण हमारे खेतोंको बढ़िया खाद मिलती आयी है, जिनके कारण खाद्य पदार्थ पैदा होते हैं, जो बैल भार-वहन करनेमें सबसे उत्तम साधन हैं और जो कच्चे-पक्के, ऊँचे-नीचे रेतीले और कीचड़ आदिवाले सभी स्थानोंपर काम देते हैं, वे सचमुच ही समस्त पृथ्वीको अपने ऊपर धारण कर रहे हैं।

प्राचीन भारतके ऋषि-महर्षि और राजा-महाराजा गाय और इसकी संतानसे होनेवाले लाभोंको भली भाँति समझते थे। इसीलिये वे गायकी पूजा और आदर-प्रतिष्ठा माताके समान किया करते थे। गायकी रक्षाके लिये हमारे पूर्वज अपने प्राणोंपर खेल जाना भी एक साधारण-सी बात समझा करते थे। वेदोंमें भी गायको अनेक स्थानोंपर अघ्न्या- (अवध्य) कहा है। देशकी आर्थिक अवस्थाका आधार भी गाय-बैलको ही माना जाता था। मुसलमान बादशाहोंके राज्यकालमें गोहत्यापर पूर्ण रोक थी। गोहत्या करनेवालेको हाथ काटनेतकका भी दण्ड दिया जाता था। अंग्रेजोंने देशके लोगोंको निर्बल और निकम्मा करनेके लिये दूध-घीको समाप्त करने और परस्पर वैमनस्य फैलानेके लिये ही गो-वधको बढ़ावा दिया था।

गायके दूध-दहीके लाभ—

गौकी इतनी महत्ता इससे होनेवाले लाभोंको दृष्टिमें रखते हुए दी गयी है। इसका दूध अमृतके समान माना गया है। इसके दूधमें वे सभी पदार्थ विद्यमान हैं जो एक मानवके बच्चेके पालन-पोषणके लिये आवश्यक हैं। गौका दूध अनाज भी है और ओषधि भी। आजके विज्ञानने परीक्षणोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि गायके दूधमें मानवके अनेक रोगों—जैसे गलेके रोग, चेचक, क्षय-रोग, हृदयके रोग और पाण्डुरोग आदिको दूर करनेकी शक्ति है। गायके दूधका दही जिगर और आमाशयके रोगोंके लिये बहुत ही लाभदायक है।

महात्मा गाँधी अपनी पुस्तकमें डाक्टर सान्तराका (जो कि कोढ़की बीमारियोंके विशेषज्ञ थे) उद्धरण देकर लिखते हैं कि 'गायके दूधका प्रयोग कोढ़-जैसे रोगोंमें बहुत लाभदायक रहता है।' इसी पुस्तकमें एक दूसरे स्थानपर आप लिखते हैं कि 'गायका दूध बच्चों और बौद्धिक कार्य करनेवालोंके लिये बहुत अधिक उपयोगी होता है। गौके दूधका सेवन करनेसे शारीरिक पोषणके साथ ही स्फूर्ति, सात्त्विकता, वीर्य और बौद्धिक शक्तियोंका विकास भी खूब होता है। इसका घी आयुको बढ़ानेवाला है।'

गोबर और मूत्र कीटाणुनाशक—

गायके न केवल दूध और दही ही दवाइयोंका काम देते हैं, अपितु इसका मूत्र और गोबर भी बीमारियोंकी रोक-थाममें सहायक सिद्ध होते हैं। जर्मनके एक विद्वान्

डॉक्टर सीमंजका कहना है कि गौके मूत्र और गोबरका लेपन करनेसे घरमें मच्छर और रोगोंके दूसरे कीटाणु बढ़ने नहीं पाते।

दूधसे अनाजकी कमीकी पूर्ति—

भोजनमें दूध-दहीके अभावके कारण ही हमें अधिक अनाज खाना पड़ता है। यदि हमें दूध-दही पर्याप्तमात्रामें मिलें, तो अनाजकी लागत अपने-आप ही कम हो जायगी। तब हमें बाहरसे अनाज मँगवाना नहीं पड़ेगा।

जब पानी माँगनेपर दूध मिलता था—

जबतक हम गौकी महत्ता और इससे होनेवाले लाभोंसे परिचित रहे, तबतक हमारे देशमें दूध-घीकी नदियाँ बहती रही हैं और अनाजके भण्डार भरे रहते थे। अनेक विदेशी लेखकोंके लेखोंसे इस बातका पता चलता है कि 'यहाँ दूधको मूल्य लेकर बेचना पाप समझा जाता था। यदि कोई अतिथि कभी किसी गृहस्थके घरसे पानी माँगता था तो उसे पानीके स्थानपर दूध ही दिया जाता था।' दूध-घीकी अधिकताके कारण यहाँके लोग बड़े हृष्ट-पुष्ट, पराक्रमी और बुद्धिमान् तथा लम्बी आयुवाले होते थे। तब यहाँ गो-वंशका पालन-पोषण ठीक ढंगसे होता था और प्रत्येक व्यक्तिको गायका दूध और घी पर्याप्त मात्रामें मिलता था।

गाय-बैलोंकी संख्या बहुत अधिक होनेके कारण खेतोंके लिये उनके गोबर-मूत्रकी अच्छी खाद भी बहुत अधिकमात्रामें मिल जाती थी। उसके कारण अनाजकी उपज भी बहुत अधिक होती थी। तब यहाँसे अनाज दूसरे देशोंको बाहर भेजा जाता था, किंतु आज हमें अपनी जरूरतके लिये अनाज दूसरे देशोंसे मँगवाना पड़ रहा है। दूधके डब्बे भी हमें अपने बच्चोंके लिये दूसरे देशोंसे मँगवाने पड़ रहे हैं और हम इस बातपर ही गौरव अनुभव कर रहे हैं कि हमें रूस और अमेरिकासे बहुत भारी संख्यामें जूते भेजनेके आर्डर मिल रहे हैं। क्या हमने कभी यह सोचा है कि जो देश आज चाँदपर जा रहे हैं, क्या वे अपने लिये जूते नहीं बना सकते? वे भोले नहीं हैं। वे अपने देशके पशुधनका नाश नहीं करना चाहते। ऐसे हम ही हैं, जो अपने देशके पशुधनका बुरी तरहसे नाश करते चले जा रहे हैं। इसीका परिणाम है कि लोगोंका स्वास्थ्य बिगड़ गया है। आयु कम हो गयी है और बुद्धिका बुरी तरह ह्रास हो रहा है।

ट्रैक्टर बनाम बैल—

आज मशीनरीके इस युगमें कहा जा सकता है कि जब ट्रैक्टरके द्वारा खेती-बाड़ी हो सकती है तो बैलकी इतनी महत्ता नहीं रहती। किंतु अब प्रयोगोंने यह भी सिद्ध कर दिया है कि ट्रैक्टर बैलोंका स्थान नहीं ले सकते। एक तो ट्रैक्टरोंके लिये बड़े-बड़े फार्मोंकी जरूरत है, ये तो छोटे फार्मोंके दुश्मन हैं। दूसरे ट्रैक्टर प्रति एकड़ उपजमें वृद्धि नहीं करते, अपितु ये काम करनेवाले मनुष्योंकी संख्या अवश्य ही कम कर देते हैं। और भारतवर्षमें काम करनेवालोंकी कमी नहीं है। वे पहले ही बहुत भारी संख्यामें बेकार हैं। बैलों-द्वारा खेती-बाड़ी करके किसान उपजको बहुत बढ़ा सकता है।

इसके अतिरिक्त ट्रैक्टरोंके बनवानेके लिये बहुत अधिक संख्यामें फौलादकी जरूरत पड़ती है, फिर इनकी मरम्मत आदिका भी झंझट रहता है। चलानेके लिये डीजल आयलकी भी जरूरत है जो कि अधिकतर विदेशोंसे ही मँगवाना पड़ता है। एक निश्चित समयके पश्चात् ट्रैक्टर सर्वथा बेकाम हो जायेगा, फिर नया खरीदना पड़ेगा, जब कि गाय-बैल स्वयं ही अपनी संख्याको बढ़ाते रहते हैं। भारतमें खेतीके लिये

आधुनिक मशीनरी और ट्रैक्टर प्रयोग करनेकी सलाह देकर खेती-बाड़ीके लिये बैलकी जरूरतको कम नहीं किया जा सकता। भारत-सरकारके प्लानिंग कमीशनके सदस्य प्रोफेसर राजकिशनने भी कहा है कि यदि हमें देशकी बेकार आबादीको काम दिलाना है, तो फिर खेतीके मशीनीकरणके लिये कोई स्थान नहीं है। ट्रैक्टरोंके द्वारा खेती केवल उन्हीं स्थानोंपर की जानी चाहिये, जो उबड़-खाबड़ हो। उन्होंने और कहा कि 'प्लानिंग कमीशनकी दृढ़ सम्मति है कि खेतीके पुराने तरीके ही प्रयोगमें लाये जाने चाहिये और उनके स्थानपर मशीनी-खेतीका कमीशन प्रबल विरोध करता है।'

गोबरकी खाद बनाम बनावटी खाद—

गायों-बैलोंके गोबर और मूत्रसे जो खाद स्वयमेव तैयार होती रहती है, वह भूमिकी उपजाऊ शक्तिको बहुत अधिक बढ़ा देती है, जिससे उपजमें पर्याप्त वृद्धि तो होती ही है, साथ ही अनाजकी पोषक-शक्ति भी बढ़ती है। जब कि बनावटी खाद भूमिको खोखला कर देती है और उसकी उपजाऊ शक्तिको भी कम कर देती है और अनाजकी पोषक-शक्ति भी कम हो जाती है।

जिस खेतमें पशुओंके गोबर और मूत्रसे तैयार हुई खाद पड़ती है, उस खेतको हानि पहुँचानेवाले कीड़े-मकोड़े बिल्कुल पैदा नहीं होते। गाय-बैलके गोबर और मूत्रमें ऐसे कीड़ों-मकोड़ोंको नाश करनेकी अद्भुत शक्ति होती है।

बैलोंके द्वारा जहाँ हम खेतकी उपज प्रति एकड़ बढ़ा सकते हैं, वहाँ ट्रैक्टरोंके खरीदने और उनकी मरम्मत तथा डीजल-आयलके खर्चसे भी बच सकते हैं और खाद तैयार करनेकी फैक्टरियोंपर भी हमें लाखों रुपये व्यय करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

ठाँठ गायोंका प्रश्न—

कुछ लोगोंका कहना है कि ठाँठ अर्थात् जो गायें दूध देना बंद कर चुकी हों, उनकी हत्यापर रोक नहीं होनी चाहिये; क्योंकि वे अनुपयोगी हैं। यदि आपने सृष्टिकी सभी अनुपयोगी वस्तुओंको समाप्त करनेका ठेका ले लिया है, तो ऐसे बहुत-से काम करने पड़ेंगे, जिन्हें करनेसे हमें कोई पागलके सिवा कुछ नहीं कहेगा। गाय तो कभी अनुपयोगी होती ही नहीं। त्रिसूखी होनेपर भी वह घास-फूस खाकर हमें गोबर और मूत्रकी अमूल्य खाद प्रदान करती रहती है। उसका चमड़ा आदि तो उसकी प्राकृतिक मृत्युके पश्चात् भी काममें लाया जा सकता है।

अनुपयोगी (सूखे) पशुओंके नामपर सैकड़ों दुधारू पशुओंका वध हो जाता है। इनका वध तभी रोका जा सकता है, जब कि गो-वंशके वधपर पूर्ण रूपसे रोक लगायी जाय।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिसे पूर्व हमें महात्मा गाँधी, लोक-मान्य तिलक, पण्डित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, डॉ० अनसारी, हकीम अजमलखाँ तथा अन्य सभी नेताओंने बड़ी आशाएँ दिलायी थीं कि 'आजादी मिलनेपर गो-हत्या तुरंत बंद कर दी जायगी।' महात्मा गाँधी तो भारतके लिये गायके महत्त्वको स्वराज्यसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे।

स्वतन्त्र भारतके संविधानकी धारा ४८में स्पष्ट-रूपसे ये शब्द अङ्कित हैं—'राज्य गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरोंकी नसलके परिरक्षण और सुधारनेके लिये तथा उनके वधका प्रतिरोध करनेके लिये अग्रसर होगा।'

आशा की जाती है कि अब सारे भारतवर्षमें गो-वंशके वधपर पूर्णरूपसे कानूनन रोक लगाकर भारतको समृद्ध और खुशहाल बनाया जायगा।

रोगोंकी बाढ़ और उनकी रोक-थाम

(लेखक—श्रीकृष्णअवतारजी रस्तोगी)

आज रोगोंकी बाढ़ आयी हुई है। इस बाढ़को रोकनेके लिये प्रतिवर्ष हजारों चिकित्सक तैयार किये जा रहे हैं। अनेक नये चिकित्सालय खोले जा रहे हैं और पुराने चिकित्सालयोंका विस्तार किया जा रहा है। इसी प्रयोजनके लिये बलवर्धक और रोग-निवारक ओषधियोंका अनुसंधान और निर्माण भी द्रुतगतिसे चल रहा है। शल्य-चिकित्साके विकासने अत्यन्त विपन्न स्थितिमें पड़े हुए लोगोंकी प्राण-रक्षा करनेमें भी सफलता प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य-शिक्षा, संतुलित आहार एवं उपयोगी व्यायामके द्वारा भी आरोग्यके महत्त्व-को समझाया जा रहा है। पर कोई बात बनती दिखायी नहीं देती। बीमारियोंकी बाढ़का वेग रुक नहीं पा रहा है। वह उत्तरोत्तर तेज ही होता जा रहा है।

बात यह है कि मनुष्यको रोगोंसे छुटकारा दिलाने-के लिये जो भी प्रयास हुए या किये जा रहे हैं उनसे अभीष्ट लक्ष्यको प्राप्त करनेमें अधिक सहायता नहीं मिलती। क्यों? यदि इस समस्यापर दत्तचित्त होकर विचारमन्थन किया जाय तो इसके मूलमें निम्न चार कारण मिलते हैं—

(१) असंयत आहार-विहार।
(२) अन्न, जल और वायु-दूषण।
(३) मानसिक विकृतियाँ और—
(४) अपवित्र आयके निकृष्ट प्रयास।

(१) असंयत आहार-विहार—आहारका अर्थ है भोजन और विहारका अर्थ है चलना-फिरना। भारत एक गरीब देश है, अतः अधिकतर भारत-वासियोंके लिये पौष्टिक खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रामें सुलभ नहीं हैं, अतः उनको स्वास्थ्य-लाभसे वञ्चित रहना स्वाभाविक है। इसके दो मुख्य कारण हैं—(१) वे लोग इतना अधिक खाते हैं कि पेटमें वायु और पानीके लिये पर्याप्त स्थान नहीं रह जाता। दिनमें कई बार खाते हैं, जिससे पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है और आदमी बीमार हो जाता है। (२) अभक्ष्य पदार्थोंके सेवनसे शरीरको मोटा बनानेके अभिप्रायसे खाये गये वे पदार्थ अन्नमय कोशको विकृत कर देते हैं और इसका परिणाम अदृश्यरूपसे आकस्मिक रोगोंके रूपमें तथा जन्म-जन्मान्तरतक शारीरिक विकारोंके रूपमें भुगतना पड़ता है। अतः यदि हमें नीरोग रहना है तो निम्न पाँच नियमोंका पालन करना होगा—(१) केवल कड़ाकेकी भूख लगनेपर ही खाना, (२) कम खाना, (३) अन्नमें चिकनाई और शक्करकी मात्राका प्रयोग कम करना, (४) तामसिक और अभक्ष्य पदार्थोंको त्यागकर केवल सात्त्विक भोजन करना, (५) दूध, दही और छाछका समुचित प्रयोग। इनका पालन करनेपर हम नीरोग तथा दीर्घजीवी हो सकते हैं।

विहारका अर्थ—चलना-फिरना मात्र है, पर पूरी दिनचर्या भी गौण अर्थ हो जाती है। इसमें भी सर्वथा पवित्रता बरती जानी चाहिये।

(२) अन्न, जल, वायु-दूषण—तीव्र गतिसे बढ़ती हुई जनसंख्याके कारण अन्न-दूषण तथा औद्योगिक विकासके कारण जल, वायु-दूषणकी समस्या उत्पन्न हो गयी है। यह समस्या इतनी भयावह एवं चिन्ताजनक है कि जन-जीवन खतरेमें पड़ गया है।

जनसंख्यावृद्धिके परिणामस्वरूप अन्नकी माँगका बढ़ना स्वाभाविक ही है। इस माँगको पूरा करनेके लिये बंजर भूमिको कृषियोग्य बनाया जा रहा है। कृषि-

योग्य भूमिमें रासायनिक खाद दी जाने लगी ताकि उपजमें वृद्धि की जा सके। सभी प्रकारके रासायनिक खादोंमें न्यूनाधिक विषकी मात्रा तो रहती ही है। अतः उनके अधिक प्रयोगसे एक ओर उपजमें तो वृद्धि हुई, पर दूसरी ओर अन्न विषाक्त होता गया और नये-नये रोगोंका कारण बना। इसी अन्नको मनुष्यने खाया और इसीको पशुने। अतः पशुसे मिलनेवाले पदार्थ—घी-दूधपर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि इस दूषित अन्नके प्रयोग करनेसे असंख्य लोग बीमार रहने लगे। रोग भी ऐसे जिनका उपचार सामान्य मनुष्यके वशकी बात नहीं। इस समस्याका एकमात्र हल है—संतानोत्पत्तिके सम्बन्धमें फूँक-फूँककर कदम रखना—जनसंख्या-वृद्धिपर नियन्त्रण।

भौतिक सुख-सुविधाओंको जुटानेकी चाहमें मनुष्यने औद्योगिक विकासकी ओर ध्यान केन्द्रित किया। फलस्वरूप बहुत-से नये-नये कारखाने खुलने लगे, जिनके धुएँसे जहाँ एक ओर वातावरण दूषित होता है, वहीं दूसरी ओर उसके दूषित जलके अप्रत्यक्षरूपसे सेवन करनेसे कई प्रकारके रोग मनुष्यों और पशुओं—दोनोंमें फैल रहे हैं। विशेषरूपसे तेलशोधक कारखानोंकी चिमनियोंसे निकलनेवाली गैसें मौसमको बेहद खराब बनाती हैं। ये गैसें पौधोंकी पैदावार और वनस्पतिको भी प्रभावित करती हैं। इनसे ब्रोंकाईटस् जैसे श्वास नलीके रोगोंकी वृद्धि होती है। औद्योगिक नगरोंमें फैले लकवा तथा अन्य रोग जल एवं वायु-दूषणके ही परिणाम हैं। उनसे बचनेके लिये भौतिक इच्छाओंका दमन कर जीवनकी सादगीपर बल देना होगा।

(३) मानसिक विकृतियाँ—शरीरकी दुर्बलता एवं रुग्णताका प्रधान कारण मानसिक विकृतियाँ होती हैं। अन्न, जल और वायुकी शुद्धि बरतनेपर भी यदि मन विकृत रहता है तो वह शरीर-संवर्धनकी समस्त आशाओंपर पानी फेरकर कायाको आधि-व्याधियोंके गर्तमें ढकेल देता है। दूषित विन्तनसे प्रेरित होकर ही मनुष्य असंयम बरतता है। विकृत मनकी कुकल्पनाएँ ही विकृत अभिरुचियाँ उत्पन्न करती हैं और शरीर विवश होकर विकृत गतिविधियाँ अपनाता है जिससे मानव आरोग्य-लाभसे वञ्चित रह जाता है। असंयम—कुरुचिपूर्ण आहार-विहार अपनानेके लिये शरीर नहीं मन ही उछल-कूद मचाता है और उसका दण्ड भोगना पड़ता है शरीरको। अतः मनःशुद्धि शरीरकी रक्षाके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

धनी और साधन-सम्पन्न लोग निर्धनोंकी अपेक्षा अधिक बीमार दिखायी पड़ते हैं। इसका एकमात्र कारण है उनका मानसिक तनाव एवं दूषित चिन्तन। मानसिक अव्यवस्था शरीर-पोषणके समस्त उपयोगी तथा लाभकारी साधनोंकी महत्ताको झुठलाकर रख देती है। इसके विपरीत निर्धन वनवासी और आदिवासी लोग प्रकृतिसे घोर संघर्ष करते हुए एवं कष्टमय एवं अभावग्रस्त जीवन जीते हुए भी अधिक प्रसन्न, अधिक परिपुष्ट और अधिक दीर्घजीवी दिखायी पड़ते हैं। स्वास्थ्य-रक्षामें जितना योगदान शारीरिक सुव्यवस्थाओंका है उससे सौगुना अधिक प्रभाव शुद्ध मनःस्थितिका होता है। जिनका चिन्तन दूषित एवं विकृत है, जिनके विचार अशुद्ध तथा अपवित्र हैं वे कभी भी पूर्ण स्वास्थ्यलाभ प्राप्त नहीं कर सकते—चाहे संसारकी स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ उनके लिये उपलब्ध हों।

शरीर दीखता है, पर मन नहीं। इसलिये लोग शरीर-रक्षाके लिये बहुत चिन्तित रहते हैं—समय एवं धन लगाते हैं। मन दीखता नहीं इसलिये उसके सुधारनेकी ओर न कोई ध्यान देता है और न समय

लगाता है। कुसंस्कारी मन रुग्ण शरीरकी अपेक्षा अधिक कष्टकारक है—इस तथ्यको यदि गले उतार लिया जाय तो रोगोंकी बाढ़ निश्चय ही रुक जायगी।

(४) अपवित्र आय—जिस प्रकार शरीरमें पाँच कोष होते हैं—(१) अन्नमय कोष, (२) प्राणमय कोष, (३) मनोमय कोष, (४) विज्ञानमय कोष और (५) आनन्दमय कोष; ठीक उसी प्रकार अन्नमें भी तीन कोष होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म एवं (३) कारण। ये तीनों कोष अलग-अलग ढंगसे हमारे शरीरको भी प्रभावित करते हैं। स्थूलमें स्वाद और भार, सूक्ष्ममें प्रभाव और गुण तथा कारणमें अन्नका संस्कार होता है।

हम जो भी भोजन करते हैं उसका स्वाद जिह्वा लेती है और उसके बोझका अनुभव पेट करता है। यह हुआ अन्नका स्थूल प्रभाव। भोजन यदि गुणकारी है और उसमें पौष्टिक तत्त्व अधिक मात्रामें हैं तो वह शरीरको पुष्ट बनायेगा और यदि वह बासी-घुसा और गला-सड़ा है तो पेटमें पहुँचकर विभिन्न प्रकारके रोगोंको उत्पन्न कर शरीरको रुग्ण बनायेगा। यह हुआ अन्नका सूक्ष्म प्रभाव। यदि अनीतिपूर्वक धन उपार्जित करके या पापकी कमाईसे भोजन जुटाया गया है तो उसके सेवनसे हमारा अन्नमय कोष दूषित होता है और हमारा शरीर विकृत तथा चिररोगी बन जाता है—चाहे वे भोज्य पदार्थ कितने ही पौष्टिक एवं गुणकारी क्यों न हों। यह है अन्नका कारण-प्रभाव; जो अपवित्र आयका परिणाम होता हुआ वर्तमान जीवनमें ही नहीं, वरन् जन्म-जन्मान्तरतक भुगतना पड़ता है। यही कारण है कि अनेक धन-सम्पन्न व्यक्ति शारीरिक कष्ट भोगते हैं—जब कि मेहनत-मजदूरी करके गाढ़े पसीनेकी कमाई खानेवाले लोग अपेक्षाकृत स्वस्थ दिखायी पड़ते हैं।

आज भारतके अधिकतर लोग किसी-न-किसी रूपमें अनीतिकी कमायी खा रहे हैं। इसलिये शारीरिक सुव्यवस्थाएँ और सुविधाएँ पर्याप्तरूपमें होनेपर भी रोगियोंकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है। यदि इस बाढ़को रोकना है तो हर दशामें अन्नकी पवित्रताको बनाये रखना होगा ताकि अन्नमय कोष पवित्र रह सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि अनीतिपूर्वक कमाये गये अन्नका एक दाना भी मुँहमें न पड़े।

प्राक्तन नियतिके रोग अकारण नहीं आते। वे केवल हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल चलनेकी उद्दण्ड नीतिके भी दुष्परिणाम हैं। उन्हें कुमार्गपर चलनेका दण्ड भी माना जा सकता है। यदि उन्हें विदा करना हो और शरीर तथा मस्तिष्कको स्वस्थ रखनेकी आवश्यकता अनुभव की जा रही हो तो अपनी रीति-नीति प्रकृतिके अनुसार ढालनी होगी। आहार-विहारकी विधि-व्यवस्थामें परिवर्तन लाना होगा। स्वयंको निकृष्ट चिन्ताओं और भ्रष्ट कर्मोंसे दूर रखना होगा। केवल आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकताके दृष्टिकोणको अपनानेसे ही इस प्रयोजनकी प्राप्ति हो सकती है।

उपवाससे रोग-मुक्ति

शरीरकी भीतरी सफाईके लिये उपवास सबसे अच्छा तरीका है। सालभरमें केवल तीन दिनके उपवाससे शरीरकी सफाई करने और विषैले पदार्थोंको नष्ट करनेमें जितनी सफलता मिल सकती है, उतनी सफलता रक्त-शोधककी कड़वी ओषधियोंकी सैकड़ों बोतलोंके सेवनसे भी नहीं पायी जा सकती है।

—डा० फिलिप्स एल० ओसवाल्ड

अमृत-बिन्दु

जो स्वयं अपने लिये उपयोगी सिद्ध होता है, वही जगत् और जगत्पति—परमात्माके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है ।

× × × ×

आस्था, श्रद्धा, विश्वास एकमात्र उन्हींमें किये जा सकते हैं जिन्हें सुना है; इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे जाना नहीं है; ऐसे परमेश्वर हैं ।

× × × ×

कुसङ्गका सर्वथा त्याग करके यथासाध्य सदाचारी, वैराग्यवान् भगवद्भक्त सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये जिससे मलिन वासनाएँ नष्ट होकर हृदयमें सद्भावों और शुभ कामनाओंका संग्रह हो ।

× × × ×

यदि काम-भावना (बुरी वासना) जाग्रत् हो तो उसके प्रभावसे बचनेके लिये नाम-जपकी धुन लगा देनी चाहिये अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना चाहिये ।

× × × ×

जो मनुष्य मिथ्या आग्रहसे किसी अपनी बात या धारणापर अड़ जाता है, उसका कल्याण नहीं होता । कल्याण शास्त्र-विधिसे चलनेसे होता है ।

× × × ×

अदृष्ट (प्रारब्ध) को कल्याणमें बाधक मानना भूल है, वास्तवमें सांसारिक सुखकी आशा, आकाङ्क्षा और इच्छा ही कल्याण बाधक हैं ।

× × × ×

संसारमें कहीं भी 'विभूति' विशेषता देखकर परमात्माकी याद आनी चाहिये; क्योंकि विशेषता-ओंका मूल उद्गम परमात्मा ही है ।

× × × ×

प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे संसारसे सुखकी आशा, आकाङ्क्षा रखना बड़े-बूढ़ोंके अनुभवका और शास्त्रका प्रत्यक्ष अनादर है ।

× × × ×

वास्तवमें पापनाशक इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग दुःखदायक नहीं होता; बल्कि अज्ञान-मूलक ममता, अभिमान और स्वार्थ ही दुःखके हेतु हैं ।

× × × ×

जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये कि इसमें निश्चय ही हमारे कल्याणकारी भगवान्का हाथ है ।

× × × ×

जिस मनुष्य-जीवनको शास्त्र-संतोंने देव-दुर्लभ बताया है, क्या उसकी सार्थकता भोग-भोगनेमें ही है, जो कि पशुजीवनमें भी सुलभ है ?

× × × ×

भक्तका काम भगवान्के शरणागत होना है और भगवान्का काम पापोंका नाश करके अपने भक्तकी रक्षा करना है; परंतु प्रेम करना तो भक्त एवं भगवान् दोनोंका काम है ।

श्रीभगवन्नाम-जपका महत्त्व, नियम और निवेदन

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः ।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः ॥ (—गरुडपुराण)

'हे मनुष्यो ! प्रदीप्त पापाग्निको देखकर भय न करो । गोविन्दनामरूप मेघोंके जल-बिन्दुओंसे इसका नाश हो जायगा ।' वस्तुतः यह तथ्य परम कल्याणकारी और सत्य है । बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों और संत-महात्माओंने 'नाम-महिमा'का प्रत्यक्ष अनुभव करके ही उसके महनीय गुणोंका गान किया है । नामके समान न ज्ञान है, न व्रत है, न ध्यान है, न जप है, न दान है, न शम है, न पुण्य है और न कोई सबल, समर्थ आश्रय ही है । आजके इस भयावह—आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्वेष-द्रोह, मद-मोह, स्पर्धा-कलह, वैर-विरोध, भेदभाव, संकीर्णता, पक्षपात, आरोप-प्रत्यारोप, आक्रोश, अहंकार-असहिष्णुता, आतङ्क-दमन, दुर्गुण, दुर्विचार-दुष्क्रिया तथा परपीडन, आदिसे ग्रस्त भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त, अकाल, अवर्षण, अतिवर्षण, बाढ़, अग्निदाह, भूकम्प, जलप्लावन दुर्घटना, दुर्भिक्ष, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे प्रभावित—जर्जरित, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अत्याचार, स्वेच्छाचार, हिंसा-हत्या, असदाचारसे पीड़ित इस घोर अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों और दुर्भाग्यसे त्राण दिलाने तथा सर्वाङ्गीण सुखी बनाने और मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य—मोक्ष या परमप्रेमास्पद भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है । जो मनुष्य जिह्वा पाकर भी नाम-कीर्तन करके अपनी जिह्वाको सार्थक नहीं करते, वे निश्चय ही मन्दभागी हैं—

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत् ।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः ॥

जिस हरि-नाम-संकीर्तनका ऐसा प्रताप है, वही लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ—सभी क्षेत्रोंमें एक अमोघ साधन है । सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके, नर-नारी भगवान्‌के मङ्गलमय नामका जप कर सकते हैं । अतः सदाकी भाँति इस वर्ष भी कल्याणके भगवद्विश्वासी सभी पाठक-पाठिकाओंसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि—समस्त प्रकारके दुःख-दैन्यों—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विपत्तियोंके निवारणार्थ तथा विश्वशान्ति और विश्वकल्याणार्थ—विशेष प्रयत्नपूर्वक अधिक-से-अधिक नाम-जप स्वयं करें एवं कृपया प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर दूसरोंसे भी करायें । इससे अनन्त पुण्य-लाभ होगा । नाम-जपका महामन्त्र यह है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र, महामन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये प्रतिवर्षकी तरह नियमादि इस प्रकार हैं—

१—इस वर्ष जपका समय कार्तिक शुक्ल १५, मंगलवार, सं० २०३५ (१४ नवम्बर, १९७८) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ल १५, बृहस्पतिवार, सं० २०३६ (१२ अप्रैल, १९७९) तक रहेगा । इस अवधिके बीच जप किसी भी तिथिसे आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ण सम्पन्नता चैत्र शुक्ल १५, संवत् २०३६ को ही जाननी चाहिये । लगभग पाँच महीनेका समय है । उसके आगे भी जप किया जाय, तो बहुत ही उत्तम है, करना ही चाहिये ।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं। इसमें शास्त्रका कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

३–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक चाहे जितना भी किया जा सकता है। जप नियमित हो तो उत्तम।

४–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अङ्गुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे की जा सकती है। तुलसीकी माला रखना उत्तम होगा।

५–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

६–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

७–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

८–स्त्रियाँ अशुद्धावस्था (रजोदर्शनके चार दिनों) में भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी अन्य प्रकारसे कर लेनी चाहिये। करमाला से भी जप किया जा सकता है।

९–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने श्रद्धानुसार अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्रके जपकी ही दें।

१०–सूचना भेजनेवाले सज्जन कृपया जपकी संख्याकी ही सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। हाँ, सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अलग अवश्य लिखना चाहिये।

११–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहन-भाई मन्त्र-जप करना आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर वे सूचना भेजें।

१२–प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१३–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके और सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है। यह कार्य आत्महित और विश्वजनीन होनेसे सबका कर्तव्य है।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं। उनका प्रकाशन प्रोत्साहनके लिये होता है।

१५–सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', द्वारा—'कल्याण', सम्पादकीय विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—

संयोजक—नाम-जप-विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) (उ० प्र०)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

लँगोटी

(अपरिग्रहका एक प्रेरक प्रसङ्ग)

कस्तूरबाने किसी एक गाँवमें किसान-औरतोंको नित्य-प्रति अपने कपड़े धोने और सफाई करनेका उपदेश दिया। एक गरीब किसानकी औरत, जिसके कपड़े निहायत गंदे थे, 'बा'को अपनी झोंपड़ीमें ले गयी और बोली—'माताजी ! देखिये, मेरे घरमें कुछ नहीं है। बस, मेरी देहपर यह एक ही धोती है। अब आप ही बताइये, मैं क्या पहनकर इसे धोऊँ ?'

'बा'ने इसका जिक्र गाँधीजीसे किया तो इसका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा, बोले—'इस तरहकी तो देशमें लाखों बहनें होंगी। जब उनके पास तन ढकनेको कपड़े नहीं हैं तो फिर मुझे कुरता, धोती, चादर आदि रखनेका क्या हक है ?' बस, तभीसे गाँधीजीने लँगोटी पहननी शुरू कर दी। —महाराजश्री, कुसौली

(२)

भगवतीका कृपा-चमत्कार

मैं सपरिवार 'वैष्णवीदेवी'का दर्शन करनेके लिये दिनाङ्क १३ मई १९७८ को वहाँ गया था। देवी-दर्शनके पश्चात् बच्चोंके आग्रहपर हमलोग श्रीनगर घूमने चले गये। २१-५-७८ को जब हम बसद्वारा पहलगाँव जा रहे थे, उस समय बसमें पूरी सवारियाँ थीं तथा बस काफी तेजीसे जा रही थी। लगभग ३० किलो मीटर जानेके बाद बसका ड्राइवर एक काश्मीरी महिलाको, जो एकाएक रास्तेमें आ गयी थी, बचानेका प्रयत्न करने लगा। रास्तेकी बायीं ओर बड़े-बड़े पहाड़ी वृक्ष थे तथा दाहिनी ओर लगभग दस फुट चौड़ी नहर बह रही थी। मनमें आशङ्का हुई कि अब यात्रियोंसहित बस नहरमें गिर जायगी और हम सब समाप्त हो जायँगे। ऐसी आशङ्का दूसरे सहयात्रियोंके मनमें भी हुई। सभी मारे भयके चिल्लाने लगे। एकाएक मेरे मुँहसे 'जय माँ दुर्गे', 'जय माँ दुर्गे'की नामध्वनि निकलने लगी। इस घोर संकटकालमें मैंने माँको सात बार याद किया होगा कि उन चंद क्षणोंमें ही एक अनहोनी घटना घटित हुई। हम देखते क्या हैं कि जो बस एकदम नहरके अंदर जानेवाली थी, वह नहरके उस पारके खेतपर खड़ी है; मानो किसीने उसे उठाकर वहाँ रख दिया हो। जैसे ही बस खेतपर खड़ी हुई कि यात्रियोंका कोलाहल समाप्त हो गया और स्थानीय सैकड़ों लोग इकट्ठे हो गये। दस मिनट बाद एक सरदार दारोगा भी वहाँ आ गये। उन्होंने इसे दुर्घटनाकी आशङ्का समझ और वहाँका दृश्य देख, चकित होकर यात्रियोंसे पूछा—'आपलोगोंने बस खींचकर खेतमें क्यों खड़ी कर दी है ?' मैंने तथा अन्य यात्रियोंने उनकी बातका खण्डन किया और कहा कि बस तो अपने आप नहर पार करके खेतमें आयी है। इसपर पहले तो उन्हें विश्वास ही न हुआ और तर्क करने लगे कि बसको तो नहरके अंदर जाना चाहिये था, यह नहर पार करके खेतमें किस प्रकार आ गयी ? तब मैंने दारोगाजीसे कहा कि प्रत्येक विषयमें 'क्या या क्यों ?' का प्रश्न नहीं किया जा सकता। तथ्य तो यही है जो हम कह रहे हैं और इसे सभी यात्री जानते हैं। हम सब यात्री तो बसके अंदर ही थे। ड्राइवर भी मौजूद है जिसे स्वयं नहीं पता कि बस कैसे इस पार आ गयी ! तब दारोगाजीने कहा कि अवश्य ही यह ऊपरवालेकी शक्तिका चमत्कार है।

चालीस यात्रियोंमेंसे किसीको भी न तो कोई विशेष चोट आयी और न कोई हताहत ही हुआ। परंतु किसी भीषण दुर्घटनाका अनुमान करके वहाँ कई बसें आ-आकर रुक गयीं और उनके यात्री हमसे यही पूछते थे कि 'कुल कितने व्यक्ति हताहत हुए हैं ?' उनको जब यह मालूम होता कि 'न तो कोई मरा है और न कोई घायल हुआ है', तो सभी अवाक् रह जाते और इसे दैवी-चमत्कार बतलाकर चल देते। सचमुच ही यह माँकी कृपाका चमत्कार ही था कि उस आसन्न भीषण दुर्घटनासे सभी सकुशल बच गये।—श्यामकृष्णजी दूबे, एडवोकेट

(३)

ईमानदारी हो तो ऐसी हो

मोदीनगरमें अभी हालमें घटित ईमानदारीकी एक सत्य घटनाकी आजकल चारों ओर बड़ी चर्चा है। यह बच्चे-बच्चेकी जबानपर है कि 'ईमानदारी हो तो ऐसी हो।' इस घोर कलिकालमें इस प्रकारकी घटना बड़े आश्चर्य तथा कौतूहलकी बात मानी जा रही है। ईमानदारीकी यह घटना अगस्त ७८की है जो इस प्रकार है—

मोदीनगर वस्त्रोद्योगके वीविंगविभागके फिटर—श्रीकुमुदकुमार बनर्जीने सहजरूपमें अचानक प्राप्त पौने तीन लाख रुपये उनके वास्तविक मालिकको सौंपकर असाधारण ईमानदारीका परिचय दिया है। रक्षाबन्धनपर दिल्लीके एक कपड़ा-व्यापारीका मुनीम मालिकके व्यावसायिक कार्यवश तथा अपनी बहनसे राखी बँधवानेके लिये मोदीनगर गया हुआ था। जब वह अपनी बहनसे राखी बँधवाकर अपने मालिकके पास दिल्ली वापस लौटा तो वह पौने तीन लाख रुपयोंकी थैली जो उसके पास थी, अपने साथमें न पाकर स्तब्ध रह गया। मालिकको जब थैली गायब होनेकी बात बतायी गयी तो उसे थैली खोनेका तनिक भी विश्वास न हुआ। मालिकने इसे मुनीमकी धोखेबाजीसे पौने तीन लाख रुपये हजम कर जानेकी बात समझी। व्यापारी और मुनीम जब दोनों रुपयोंकी खोजमें दौड़ हुए मोदीनगर आये तो श्रीकुमुदकुमार बनर्जीने खोये हुए नोटोंके सही नम्बर बतानेपर और यह विश्वास हो जानेपर कि वास्तवमें पौने तीन लाख रुपये इन्हींके हैं, रुपयोंकी वह बृहद्राशि उन्हें ज्यों-की-त्यों लौटा दी। बनर्जी महाशयको उक्त धनराशि उनके मिल-एरियामें ही किसी एक स्थानपर चमड़ेके एक बैगमें पड़ी हुई मिली थी।

ज्ञात हुआ है कि दिल्लीके उक्त व्यापारीने श्रीबनर्जीकी इस ईमानदारीसे प्रसन्न और प्रभावित होकर उन्हें दस हजार रुपया पुरस्कार-स्वरूप देनेकी पेशकश की तो उन्होंने यह कहा कि—'जो प्रसन्नता और आनन्द मुझे दस हजारका पुरस्कार लेकर प्राप्त न होगा, वह मुझे इस समय आपके रुपये ज्यों-के-त्यों मिल जानेपर हो रहा है। आप मुझे उस दुर्लभ आनन्द तथा संतोषसे क्यों विरत करना चाहते हैं? मैं आपके इस सद्भावके लिये आभारी हूँ। मुझे क्षमा करें।'

ईमानदारीकी इस सत्य घटनासे जनसाधारणको शिक्षा लेनी चाहिये। इस बहुमूल्य मानवजीवनको बेईमानीसे बचाकर ईमानदार बनाना चाहिये। हमें यह न भूलना चाहिये कि चाहे कोई कितना ही भजन-पूजन, योग-यज्ञ, जप-तप करे और चाहे जितना कोई पुण्य-दान तीर्थाटन आदि करे, किंतु जबतक हम अपना जीवन ईमानदारीका नहीं बनायेंगे तबतक हमारा कल्याण तीन कालमें भी नहीं हो सकता। पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजकी यह चौपाई तथा दोहा आत्मसुधारके लिये मननीय तथा सदा स्मरण रखने योग्य है कि—

जननी सम जानै पर नारी। धन पराव विष ते बिष भारी॥
दो०—परधन को मिट्टी गिनै पर त्रिय मातु समान।
इतने में हरि ना मिलें तुलसीदास जमान॥

वस्तुतः प्रातःस्मरणीय संतकी इस लोककल्याण-कारी वाणीको ईमानदारीके साथ जीवनमें उतार लेनेमें ही हमारा तथा सम्पूर्ण देशका भी कल्याण है।

—भक्त श्रीरामशरणदासजी

(४)

श्रीरामरक्षास्तोत्रका चमत्कार

घटना मई और जून १९७६की है। एक दिन सारे शरीर और पैरोंमें भयानक दर्दके साथ मुझे ज्वर हो आया। यद्यपि ज्वर १०१के ऊपर नहीं गया, फिर भी मुझे बड़ी बेचैनीका अनुभव हो रहा था। डॉक्टरने बताया कि मुझे चेचक निकल सकती है। सचमुच उसी दिनसे मेरे शरीरमें चेचकके बड़े-बड़े दाने निकलने प्रारम्भ हो

गये। मैं घबड़ा गया। डॉक्टरने यह भी बताया कि रोगके शमनमें तीन सप्ताह लगेंगे। रोग किसी प्रकार भी शान्त होनेका नाम नहीं ले रहा था। मैं कष्टसे बहुत व्याकुल था। मेरे पिताजी दीर्घकालसे 'कल्याण'के ग्राहक हैं।....मैं उसमें भगवत्-कृपा-सम्बन्धी चमत्कारोंकी घटनाएँ पढ़ चुका था, अतः निराश होकर मैं अशरण-शरण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी ही शरणमें गया। श्रीरामचतुष्टयके चित्रका ध्यान करके मन-ही-मन भगवान्से कष्टमुक्ति-हेतु प्रार्थना करने लगा। 'कल्याण'में रामरक्षास्तोत्रकी महिमा भी मैं पढ़ चुका था, अतः मैंने पिताजीसे आग्रह किया कि वे 'रामरक्षास्तोत्र' पढ़कर मुझे प्रतिदिन सुनावें। उन्होंने ऐसा ही किया और मैं बड़ी लगन तथा प्रेमसे उसे सुनने लगा। पिताजी उसका अर्थ भी साथ-साथ समझाते जाते थे। पहले दिनसे ही भगवान्ने मेरी करुण-पुकार सुन ली। मेरा रोग अब क्रमशः घटने लगा और दो दिनोंमें ही मेरा शारीरिक कष्ट प्रायः दूर हो गया, यद्यपि शीतलाके दाने आदि ठीक होनेमें लगभग कुल तीन सप्ताह लग गये। भगवान्की कृपासे अब मैं बिल्कुल स्वस्थ हूँ। भगवत्-कृपासे ही चेचकका कोई कुप्रभाव मेरे शरीर और मुख आदिपर नहीं हुआ और न अब ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे कभी चेचक निकली थी।

धन्य है भगवान् श्रीरामकी अनन्त शक्ति, जिसका वर्णन 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'में है—जिससे मेरी रक्षा हुई। इसके लिये मैं 'कल्याण'के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

—उमेशकुमारजी दीक्षित

(५)

हनुमान्जीने प्राणरक्षा की

सोमवार दि० १०। ७। ७८की रात्रिको हम दोनों पति-पत्नी खुली छतपर जमीनमें पड़े गहरी नींदमें सो रहे थे। रात्रिके ११ बजे एक घोड़ापछाड़ नागिन न जाने कहाँसे आ गयी और मेरे उघारे शरीरपर चढ़कर घूमने लगी। इतनेमें मैंने स्वप्न देखा—जैसे कोई मुझसे स्पष्ट कह रहा है 'तेरे पास साँप आ रहा है। तेरे ऊपरसे उतरकर तेरी पत्नीके ऊपर चढ़ रहा है, उठ जाग! शीघ्रता कर!!' लगभग यही स्वप्न उस समय मेरी पत्नी भी देख रही थी। इसके पश्चात् जैसे किसीने मेरी टाँग पकड़कर खींच दी हो और कहा कि देखते नहीं, फिर कहेगा कि कोरा स्वप्न था। हम दोनों एकदम जाग गये तो देखते हैं कि एक भयंकर नागिन हमारे पास एक ही हाथके फासलेपर फुफकारती हुई आरामसे बैठी है।

हम दोनों पूर्णतः हतप्रभ कुछ देर उसीके पास बैठे रहे और मन-ही-मन श्रीबालाजी महाराज (हनुमान्जी)की जय-जयकार करते रहे। हमने टार्च जलाकर उसे भलीभाँति देख लिया तथा यह भी जान लिया था कि वह घोड़ापछाड़ नागिन है। हम निरन्तर हनुमान्जीका नामस्मरण करते रहे। तब धीरे-धीरे वह खिसकने लगी और फिर जरा तेजीसे चलकर कहीं भाग गयी। मानो अबतक हमारे पास अपना परिचय देनेके लिये ही बैठी रही हो। हमलोग बुरी तरहसे घबड़ाये हुए थे और बार-बार अपने-अपने शरीरोंका निरीक्षण कर रहे थे कि कहीं उसने काटा तो नहीं है; परंतु बालाजी महाराजकी दयासे हम लोग पूर्णतः सुरक्षित थे।

हमारे घर तथा परिवारमें घाटे-मेंहदीपुरके श्रीबालाजी (श्रीहनुमान्जी महाराज)की पूजा-उपासना होती है। उस दिन उन्हींके चरणोंकी दयासे हमारे प्राणोंकी रक्षा हुई; और ऐसा हो भी क्यों न जब—

संकट कटै मिटै सब पीरा। जो सुमिरै हनुमत बलबीरा॥

श्रीहनुमान्जीके विषयमें यह प्रशस्ति-वाक्य आराधकोंका अमोघ संबल है। —रामासरेजी समाधिया

कार्तिक-मासकी महिमा तथा इसके व्रतोत्सव

कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा होनेसे कार्त्तिक मासकी प्रसिद्धि है। कालयोगसे कर्मफलमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है। यह अन्य मासोंकी अपेक्षा शतगुणित श्रेष्ठ कर्मफल प्रदान करनेवाला है।

कार्तिकं सर्वमासेभ्यः सहस्रफलदं विदुः। (वायुपुराण माघमा० १)
कार्तिकः खलु वै मासः सर्वमासेषु चोत्तमः॥ (स्क० का० मा० १।२७)

कार्तिकको व्रतोंका ही महीना कह सकते हैं। इसकी प्रत्येक तिथिको कोई-न-कोई व्रत होता है। इसमें विशेषकर अश्वत्थपूजन, धात्री (आमलकी)-पूजन, तुलसीपूजन, आकाशादि दीपदान, मार्गपालीपूजा, विष्णु-प्रबोधनादि व्रत, धर्म (पुण्यकार्य), दान, उत्सवादि होते हैं। इसके अतिरिक्त इस मासके संकष्टी करकचतुर्थी, गोवत्सद्वादशी, दीपावली, चित्रगुप्त-पूजा, रविषष्ठीव्रत, अक्षयनवमी, वैकुण्ठ-चतुर्दशी आदि व्रत भी बड़े महत्त्वके हैं। इस मासमें पुष्कर-स्नान, मथुरा-स्नान, कावेरी-स्नानकी विशेष महिमा है। कार्तिकमें पुष्करवास, स्नानादिपर पद्मपुराणका सम्पूर्ण सृष्टिखण्ड ही मननीय है। केवल पूर्णिमाके एक दिन ही पुष्करवाससे हजारों अश्वमेधका पुण्य होता है।

कार्तिकीं वा वसेदेकां समं वा स्यान्न वा समम्। (पद्म० सृष्टि० पुष्करमा०)

यहाँतक कि पुष्करको मात्र स्मरण करनेपर ही प्राणी सर्वथा शुद्ध हो जाता है और अन्य समयके स्मरणकी अपेक्षा कार्तिकमें लाखगुना, करोड़गुना फल होता है।

पुष्करं यः स्मरेत् प्राज्ञः कर्मणा मनसा गिरा।
कार्तिके मुनिशार्दूल लक्षकोटिगुणं भवेत्॥ (स्कन्द० का० मा० २।२५)

कार्तिकमें प्रातः गङ्गादि नदियोंमें स्नानकी बड़ी महिमा है। इसी प्रकार इसमें स्नान, दान, भगवत्पूजनकी महिमा अधिक बढ़ जाती है। जो पञ्चामृत या दुग्ध, चन्दन, कर्पूर, सुवासित जलादिको मिलाकर शालग्रामादिरूपमें स्थित श्रीभगवान्‌को स्नान कराता है, उसके पितृगण मुक्त होकर करोड़ों कल्पतक स्वर्गमें आनन्दका उपभोग करते हैं—

क्षीरादिस्नपनं विष्णोः क्रियते पितृकारणात्।
कल्पकोटिं दिवं प्राप्य वसन्ति त्रिदिवैः सह॥ (स्क० का० मा० २।२९)

इसी प्रकार लक्ष तुलसीपत्रार्चनका विधान है। इसमें भगवन्नाम-जप, विष्णुसहस्रनामपाठ, भागवतपाठ, गीतापाठ, वाल्मीकीय रामायणपाठकी बड़ी महिमा है। कार्तिक मासमें गीतापाठके विषयमें कहा गया है—

कार्तिके मासि विप्रेन्द्र यस्तु गीतां पठेन्नरः।
तस्य पुण्यफलं वक्तुं मम शक्तिर्न विद्यते॥ (वही ४९)

पाद्मीय गीतामाहात्म्यमें ऐसी कई कथाएँ हैं। वाल्मीकीय रामायणके माहात्म्यके द्वितीय अध्यायमें भी कार्तिकमें इसके नवाहकी बड़ी महिमा है। इसी मासमें गौतम मुनिके निर्देशपर सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मण, जो शापसे राक्षस हो गया था, गर्ग ब्राह्मणद्वारा रामायणके नवाहपारायणश्रवण करनेसे मुक्त हो गया था। इसका विस्तृत विवरण स्कान्दीय रामायणमाहात्म्यके नारद-सनत्कुमारके संवादमें देखना चाहिये। इसी प्रकार अन्य शास्त्रोक्त धार्मिक अनुष्ठानोंद्वारा भी इस मासमें पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्ति शीघ्र एवं सहज होती है।

—जा० श०

गो-सूक्त

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

गाय रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो ।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥

गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है । वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपनी सुन्दर मधुर शब्दोंसे गुँजा दें । ये विविध गोठोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा) के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों ।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

वे गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये । जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है, उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे ।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥

गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र हमें गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने । जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है । मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (भगवान्) का यजन करना चाहता हूँ ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥

गौओ ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेमें सुन्दर बना देती हो । इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हो, इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है ।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥

गौओ ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो । तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी चारों ओरसे रक्षा करे ।

(अथर्व० ४ । २१)